मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

युवाचार्य महाप्रज्ञ

मेरी दृष्टि मेरी सृष्टि

सपादक

मुनि दुलहराज



स्वर्गीय श्री मोतीलालजी धारीवाल (रायपुर, म० प्र०) की पुण्य स्मृति मे उनके सुपुत्र सर्वश्री सुरेशचन्द्र, महेन्द्रकुमार, विजयकुमार, प्रमोदकुमार धारीवाल एवं सुपुत्री श्रीमती विजयदेवी सुराना के आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित

मूल्य पन्द्रह रुपये / प्रथम सस्करण, १९८३ / प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक, आदर्श साहित्य सघ, चूरू (राजस्थान) / मुद्रक भारती प्रिण्टर्स, दिल्ली-११००३२

MERI DRISHTI, MERI SRISHTI . Yuvacharya Mahaprajna

प्रस्तुति

जहां वाणी आधार मुक्त हो जाता है, वहां हृदय का विकास जागता है। जहां हृदय मुक्त होता है, वहां भाषा मनुष्य का साथ नहीं देती। जहां भाषा हृदय को छूने का प्रयत्न करती है, वहां व्यक्तित्व विभक्त हो जाता है। अखंड व्यक्तित्व वहां होता है, जहां भाषा और हृदय में द्वैत नहीं होता। भाषा और हृदय में अद्वैत तब होता है जब बुद्धि परिमार्जित और अन्तर्मुखी होती है।

जिसे देखना चाहिए वहां दृष्टि नहीं जाती। जिसे नहीं देखना चाहिए, वहां देखने का प्रयत्न होता है। यह कैसा विपर्यय! कांच में मनुष्य अपने आपको देखता है। पर किसने कांच की निर्मलता को देखा!

मेरी दृष्टि है—हम अपने निर्मल चैतन्य को देखने का प्रयत्न करें। उसमें जो प्रतिबिम्ब होगा, वह वास्तविक होगा।

सर्जन का मूल मंत्र है—सतत जलते रहना, कभी नहीं बुझना। यह है—अप्रमाद का सूत्र। तुम कभी मत बुझो, निरंतर जलते रहो। वे दीपक प्रिय नहीं होते जो रात को जलते हैं और दो घड़ी बाद बुझ जाते हैं। वह दीपक प्रिय होता है जो एक बार जल गया तो जल ही गया। वही ज्योति ज्योति होती है जो अखंड ज्योति के रूप में निरंतर जलती रहे।

सर्जन का यही मूल मंत्र है। वही दृष्टि प्रिय हो सकती है जो नए-नए उन्मेष पैदा कर सके, उन्हें संभाल सके, उनका संरक्षण और पोषण कर सके।

सृष्टि का आदि बिन्दु है आत्मा और चरम बिन्दु है आत्मा। जब-तक वह उपलब्ध न हो जाए तब तक पुरुषार्थ चलता रहे। प्रकाश मिलता रहेगा। हाथ-पैर हिलते रहें, प्रकाश मिलता रहेगा। जिस क्षण पुरुषार्थ बन्द हुआ, प्रकाश बुझ जाएगा, सर्जन रुक जाएगा। सर्जन का घटक है पुरुषार्थ।

मैंने इन निबंधों में दर्शन और सर्जन का विवरण किया है। इसके अनेक आयाम हैं। पाठक इन आयामों में दोनों का स्पर्श करने का प्रयत्न करें, उन्हें कुछ आलोक प्राप्त होगा।

[illegible]
[illegible]

युवाचार्य महाप्रज्ञ

क्रम

मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि

मंगल सूत्र

'एकाप्यनाद्याऽखिलतत्त्वरूपा ,
जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः ।
तत्राप्यसत्य त्यज सत्यमङ्गी
कुरू स्वय स्वीयहिताभिलाषी ।।'

आज मेरे हाथ मे 'श्रमणसूत्र' की पुस्तक है। यह एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है। यह भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर समग्र जैन समाज के द्वारा मान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के सकलन मे हमारे सघ का बहुत बडा हाथ है। जिनेन्द्रवर्णी ने इसका प्रारम्भ किया और इसकी सम्पन्नता आचार्य तुलसी के निर्देशानुसार मेरे द्वारा हुई। एक सगीती हुई। उस सगीती मे यह ग्रन्थ सबके द्वारा मान्य हुआ और आज यह जैन धर्म का सर्व-सम्मत ग्रन्थ है।

विनोबाजी की भावना थी कि जैसे वैदिको मे गीता तथा बौद्धो मे धम्मपद है, वैसे ही जैनो मे भी एक ग्रन्थ होना चाहिए, जो सर्व-सम्मत हो। इस अवसर पर यह भावना पूरी हुई। यह एक बहुत बडा ऐतिहासिक कार्य हुआ। अभी राधाकृष्ण बजाज आए, उन्होने कहा—'समणसुत्त' कई विश्वविद्यालयो मे पाठ्य-पुस्तक के रूप मे स्वीकृत हो चुका है। वे लोग चाहते हैं इसकी व्याख्या जिससे विद्यार्थी को लाभ हो सके। उन्होने मुझसे अनुरोध किया कि आप व्याख्या लिखें। मैंने कहा—यह तो मेरे लिए सभव नही है। अभी इतने काम सामने हैं कि कोई नया काम प्रारम्भ करना संभव नही लगता। फिर एक विकल्प सोचा, यह हो सकता है कि प्रवचन मे मैं कुछ इस पर व्याख्या करू। वह शायद उपयोगी हो जाए। आज से यह क्रम मैं शुरू कर रहा हूं।

अभी मैंने यतिभोज का श्लोक कहा। यह जिनवाणी के विषय मे बहुत मार्मिक श्लोक है। उसका अर्थ है—जिनवाणी एक है। वह सब तत्त्वो का निरूपण करने वाली अनादि वाणी है, फिर भी उसका इतना विस्तार हो गया कि उसमें

बहुत सारी बातें मिल गईं। गंगोत्री का निर्मल जल जहां से प्रवाहित होता है, बहुत साफ-स्वच्छ होता है, किन्तु विस्तार के साथ-साथ उसमे बहुत सारी बातें मिल जाती हैं। यह एक बहुत बडा सत्य है कि सीमा मे रहने वाला जितना निर्मल रह सकता है, विस्तार के साथ वह उतना निर्मल नहीं रह सकता। आदमी विस्तार चाहता है, किन्तु इस सचाई को हम अस्वीकार न करें कि विस्तार के साथ-साथ कुछ दूषित तत्त्व भी साथ मे मिलते हैं। हर बात मे ऐसा होता है, जिन-बाणी मे भी ऐसा हुआ है। उसमे बहुत सारे तत्त्व मिल गए। अब हमे विवेक की आवश्यकता होगी। विवेक करे। जहा भी कोई दोष आ जाता है, वहा विवेक करना जरूरी होता है। जल फिल्टर किया जाता है, यह विवेक है। विवेक का अर्थ है—जो दो हैं, उनको अलग-अलग कर देना। 'विवेक. प्रथगात्मता'—अलग-अलग कर देना है विवेक। प्राचीन काल मे कहा जाता था कि हस मे विवेक होता है। यह उक्ति बहुत प्रचलित है—'क्षीर-नीर विवेक'। यानी हस मे विवेक-शक्ति होती है। वह दूध और पानी को अलग कर देता है। केवल हस मे ही नही, यह शक्ति अम्लता की शक्ति होती है। नीबू भी यह काम कर सकता है और मछली भी कर सकती है। सस्कृत-साहित्य मे एक प्रसग आता है—

मत्स्यादयोऽपि जानन्ति, क्षीरनीरविवेचनम्।
प्रसिद्धिरत्र हसस्य, यश पुण्यैरवाप्यते॥

"यह क्षीर-नीर का विवेक हस ही नही करता, मछली भी करती है, किन्तु प्रसिद्धि है हस की। क्योकि यश तो भाग्य से ही मिलता है।"

इसी सन्दर्भ मे एक दूसरा श्लोक है—

मासे मासे समा ज्योत्स्ना, पक्षयोरुभयोरपि।
एक कृष्ण पर शुक्ल. यश, पुण्यैरवाप्यते॥

चांद की चादनी कृष्ण पक्ष मे भी होती है और शुक्ल पक्ष मे भी होती है। दोनो पक्षो मे चादनी बराबर होती है। फिर एक का नाम कृष्ण पक्ष और एक का नाम शुक्ल पक्ष क्यो? कोई तार्किक कारण मै नही दे सकता, किन्तु यश भाग्य से ही मिलता है। यश मिला, शुक्ल पक्ष बन गया। दूसरे को यश नही मिला, कृष्ण पक्ष बन गया। चादनी दोनो मे समान होती है।

विवेक की शक्ति हस मे भी होती है, मछली मे भी होती है और नींबू मे भी होती है। इसका कारण है—अम्लता। उसमे यह शक्ति है कि वह दूध से पानी को अलग कर देता है। हस के मुह मे भी अम्लता है, मछली मे भी अम्लता है। हम ऐसा विवेक करे। अपनी विवेक-शक्ति को जगाए, असत्य को छोड दें और सत्य को स्वीकार करे। जिनवाणी मे जो कुछ बाद मे मिल गया उसे छोड़ दें

और जो मूल है, उसे स्वीकार करें। आज के रिसर्च करने वाले विद्वानों में एक अच्छी प्रवृत्ति का जन्म हुआ है। वे किसी भी ग्रन्थ को एकदम प्रामाणिक नही मानते। वे इस बात का विश्लेषण करते है, विवेक करते हैं कि पुराना अंश कितना है और नया अंश कितना है। मौलिक कितना है और बाद मे कितना जुड़ा है। काल के प्रवाह मे ऐसा हुआ है कि किसी भी ग्रन्थ को मूल ग्रन्थ कहना बड़ा कठिन हो गया। एक श्रद्धालु आदमी के लिए तो अलग बात है। वह तो श्रद्धा से स्वीकार करता है। किन्तु अनुसंधान करने वाले व्यक्ति के लिए यह बहुत कठिन है कि किसी पूरे के पूरे ग्रन्थ को मौलिक मान ले।

जैन आगमो के विषय मे जर्मन विद्वानो ने एक प्रयत्न किया। कुछ मानदण्ड निश्चित किए और पूरा विश्लेषण किया कि आगमों मे प्राचीन पाठ कितना है और बाद मे कितना जोडा गया है। उन्होंने अपनी निश्चित पद्धतियां स्थापित की है। महाभारत के श्लोक लाख माने जाते है, किन्तु प्रारम्भ मे उसका नाम था 'जय'। तब उसमे आठ हजार श्लोक थे। फिर २१००० श्लोक बने और उसका नाम हो गया भारत। आज हो गया महाभारत। जुडते-जुडते, प्रवाह मिलते-मिलते आठ हजार और इक्कीस हजार श्लोक के आज एक लाख से ज्यादा श्लोक बन गए। सब ग्रन्थो मे लगभग ऐसा हुआ है। तो हमे आज विवेक करना जरूरी हो जाता है कि मूल क्या है और बाद मे क्या जुडा है। आचार्य ने कहा कि जिस व्यक्ति मे सत्य की जिज्ञासा होती है और जो अपनी आत्मा का हित चाहता है, वह व्यक्ति किसी ग्रन्थ के पीछे नही जाता, किन्तु उसमे से खोजता है कि मूल क्या है ?

'श्रमण सूत्र' जिनवाणी का सूत्र है और यह अनेक ग्रन्थो से सकलित है। यह एक कसौटी के साथ सकलित है कि जिसमे नयदृष्टि से जो सत्य प्रतीत होता है, उसका सकलन है। इसका पहला प्रकरण है—'मगल सूत्र'। हम कोई भी कार्य करे तो मगल के साथ करे। आयोजनो का प्रारम्भ भी मगलगीत से होता है। मगलाचरण से कार्य शुरू करते हैं, इसीलिए कि हर व्यक्ति सफलता चाहता है। असफलता कोई नही चाहता। सबको इष्ट है कि सफल बने। एक व्यक्ति बीज बोता है तो वह चाहता है कि यह बीज सफल बने यानी उगे।

प्रत्येक मनुष्य सफल होना चाहता है, सफल जीवन जीना चाहता है। वह जो कुछ करता है उसमे सफलता चाहता है। सफल होने के लिए वह मगल भावना करता है, मगल आकाक्षा करता है और मगल कार्यारम्भ करता है। सफलता तब संभव है, जब कोई बाधा न हो। निर्विघ्न कार्य सम्पन्न हो जाए, तभी सफलता मानी जाती है। किसी भी प्रवृत्ति को प्रारम्भ करते समय मनुष्य यही सोचता है कि यह निर्विघ्न सम्पन्न हो।

मगल बहुत सारे पदार्थ माने गए हैं। अनेक पदार्थों का चुनाव किया गया जो

मंगलकारी होते है। नारियल, दीप, जल और दूध आदि को मंगल माना गया। दधि और अक्षत को मगल माना गया। इन सब पदार्थों को मगल मानते हैं, पर क्यो मानते हैं ? पदार्थ वही मंगल होता है जो हमे प्रभावित करता है, हमारे विचार और हमारी चिन्तनधारा को प्रभावित करता है। इसका वैज्ञानिक कारण खोजें तो प्रत्येक पदार्थ रश्मिवत् होता है। हर पदार्थ मे से किरणें निकलती है। कोई भी ऐसा पदार्थ नही जिसमे से रश्मिया न निकलती हो। आदमी से निकलती है, इस पुस्तक मे से निकलती है, घडी मे से निकलती हैं। प्रत्येक पदार्थ से रश्मिया निकलती है और इसी सिद्धान्त के आधार पर फोटोग्राफी का विकास हुआ। रश्मिया तदाकार निकलती हैं और समूचे वायुमंडल मे फैल जाती हैं। इसीलिए टेलीविजन में हजार कोस की दूरी का दृश्य आप देख सकते हैं। एक और विकास हो रहा है कि एक आदमी यहां बैठा है। आदमी चला गया। दो घटा बाद उसका फोटो लिया जा सकता है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। आदमी चला गया, किन्तु उसकी रश्मिया अभी भी वहा मौजूद हैं और उन रश्मियो के द्वारा उसका फोटो लिया जा सकता है। हाईफ्रिक्वैंसी का कैमरा हो तो फोटो लेने मे कोई कठिनाई नही होती। बहुत सवेदनशील कैमरा हो तो फोटो लिया जा सकता है।

जैन आगमो मे वर्णित है कि जहा पुरुष बैठा हो, वहा अन्तमुहूर्त तक साध्वी को नही बैठना चाहिए और जहा स्त्री बैठी हो, वहा अन्तमुहूर्त तक साधु को नही बैठना चाहिए। क्यों ? इसलिए कि वह पुरुष तो चला गया, वह स्त्री तो चली गई, किन्तु उसके परमाणु अभी भी वहा मौजूद हैं। उस स्त्री के बैठने के स्थान पर यदि पुरुष बैठता है तो बहुत सभव है कि पुरुष मे उत्तेजना की भावना जाग जाए। जहा पुरुष बैठा हो वहा यदि साध्वी बैठती है, तो बहुत सभव है साध्वी भी प्रभावित हो जाए उन परमाणुओ से। हम स्थूल जगत् के नियमो को जानते है। स्थूल जगत् के नियमो के आधार पर सारे जीवन को चला रहे है। अगर सूक्ष्म जगत् के नियमो को जानने लग जाए तो सारा ससार इतना विशाल बन जाए कि स्थूल जगत् के नियम उसके सामने व्यर्थ बन जाए। हम तो स्थूल जगत् के नियमो को मानकर चलते है और वे नियम सूक्ष्म जगत् मे लागू नही होते।

एक ग्रामीण होटल मे गया। वह कभी शहर मे आया नही था। कमरे मे बिजली जल रही थी। वह सोया, किन्तु प्रकाश मे नीद नही आयी। वह उठा और फूक मारकर बल्ब को बुझाने का प्रयत्न करने लगा। फूक मारते-मारते वह थक गया। बिजली बुझी नही। फूक मारने के सिवाय वह दूसरा कोई उपाय जानता नही था। दीए को फूक से ही बुझाया जा सकता है।

फूक मारना भी एक नियम है दीए को बुझाने का, किन्तु वह इतना स्थूल नियम है कि केवल दीए पर ही लागू होता है, बिजली पर नही। हम एक जगत् के

नियमों को जानते हैं, किन्तु हम अनेक जगत् में जीते हैं। दुनिया इतनी विराट् है और जगत् के इतने स्तर हैं कि एक स्तर का नियम दूसरे स्तर पर लागू नहीं होता। स्थूल नियमो को हम जानते हैं, इसीलिए स्थूल पदार्थों का हम सबसे पहले चुनाव करते हैं। हमने चुनाव किया पदार्थों का, पदार्थ मगल होते हैं। पदार्थ इसलिए मंगल होते है कि उनमे से निकलने वाली रश्मियां हमे प्रभावित करती हैं। उन रश्मियों से हम प्रभावित होते हैं।

पदार्थ का दूसरा लक्षण है—'चयापचया धर्म ···'। प्रतिक्षण चय और अपचय होता है। कुछ निकलता है और कुछ जुडता है। सूक्ष्म जगत् मे यह क्रम तेजी के साथ चल रहा है। हमारे इस शरीर से प्रतिक्षण अनन्त परमाणु निकल रहे हैं और नये परमाणु उसमे आ रहे हैं। यह चमडी एक अवरोध है कि बाहर की चीज भीतर मे नही जा सकती। पानी की बूद शरीर पर गिरी कि चमड़ी उसे रोक लेगी, वह भीतर नही जाने पाएगी। बाहर ही रह जाएगी, बाहर ही सूख जाएगी। किन्तु यह तो स्थूल पदार्थ के लिए अवरोध है। चमडी मे से कितनी सूक्ष्म रश्मिया निकलती है, आर-पार जाती है, कोई बाधा नही है। यह भीत, किवाड, दरवाजे—सारे के सारे स्थूल जगत् के तत्त्वो को रोकने वाले हैं। परमाणु के लिए भीत का कोई अर्थ नही है। पदार्थ की ये दो विशेषताए है—रश्मिवत् होना और चयापचय धर्म वाला होना। रश्मिया जो निकलती है वे हमे प्रभावित करती हैं और निश्चय ही हम उनसे प्रभावित हो जाते हैं। बहुत सारे पदार्थ ऐसे है जिनमे से अच्छी रश्मिया निकलती है और अच्छा प्रभाव डालती हैं। इसलिए पदार्थ को हमने मगल माना। पर हर पदार्थ, हर स्थिति मे मंगल होता है ऐसा भी नही मानना चाहिए। सौर जगत् के विकिरण आते है और मगल करते है। इस पर आगम शास्त्र मे बहुत गभीर चिन्तन किया गया, फिर निर्णय दिया गया कि वे मगल है। पर इनको वास्तविक मगल नही मानना चाहिए। ये द्रव्य मगल है, भाव मगल नही। द्रव्य का अर्थ है—अवास्तविक और भाव का अर्थ है—वास्तविक, पारमार्थिक। ये पारमार्थिक मगल नही है। ये मगल हो भी सकते है और नही भी हो सकते। इसको तर्क की भाषा मे कहते है—अनेकान्तिकता। एकान्तिकता नही। अन्त तक मगल हो, यह कोई जरूरी बात नही। अनात्यन्तिकता और अनेकान्तिकता, ये दो दोष माने जाते है, जो वास्तविकता नही होने देते। वास्तविकता इसलिए नही कि हो भी सकता है और नही भी हो सकता। एक व्यक्ति के लिए दीप मगल बन सकता है, दूसरे व्यक्ति के लिए नही भी बन सकता। एक व्यक्ति के लिए नारियल, अक्षत, दही, दूध—ये सारे पदार्थ मगल बन सकते है और दूसरे के लिए नही भी बन सकते। इसलिए ये वास्तविक मगल नही है। इनमे मगलकारक तत्त्व मौजूद है, फिर भी ये आत्यन्तिक और एकान्तिक नही हैं। इसलिए निश्चित रूप से हम नहीं कह सकते कि ये मगल ही हैं।

ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र और शकुनशास्त्र—ये तीनों भारत की बहुत प्राचीन विद्याएं रही हैं। ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र और शकुनशास्त्र—तीनों मे इन पदार्थों के मगलों का बहुत बडा विवेचन है। किन्तु अध्यात्मशास्त्र मे मंगल का दूसरी दृष्टि से विवेचन है कि वास्तव में मगल उसी को मानना चाहिए जिसमें निश्चित ही अनिष्ट को दूर करने की क्षमता हो, निश्चित ही विघ्न और बाधाओ को मिटाने की क्षमता हो। उसी को वास्तव मे मगल मानना चाहिए और सबको औपचारिक मगल मानना चाहिए। अस्वीकार नही किया कि पदार्थ मगल नही होते किन्तु सर्वथा स्वीकार भी नही किया। उन्होने परममगल पर विचार किया और परममगल वह होता है जो निश्चित रूप से मगल होता है, हर व्यक्ति के लिए होता है, हर काल मे और हर देश मे होता है। वह वास्तविक मगल होता है। प्रश्न होगा—वह क्या है? पहला मगल सूत्र है—णमो अरहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूण। अर्हत् मगल है, सिद्ध मगल है, आचार्य मगल है, उपाध्याय मगल है, साधु मगल है। ये पाच मगल है। क्यो माना गया इनको मगल? क्या कारण है कि इन्हें मगल माना जाए? कारण यह है कि ये सब आत्मा है। आत्मा सबसे बडा मगल है। चैतन्य सबसे बडा मगल है। आनन्द सबसे बडा मंगल है। शक्ति सबसे बडा मगल है। आत्मा के तीन लक्षण है—अनन्त चैतन्य, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति। ये सबसे बडे मगल है। चेतना मे कभी अमगल नहीं होता। आनन्द मे कभी अमगल नही होता और शक्ति मे कभी अमगल नही होता। एक शब्द मे कहू तो आत्मा सबसे बडा मगल है। थोडा विस्तार करू तो सिद्ध और साधु सबसे बडे मगल है। दो ही मूल बात है—सिद्ध और साधु। साधु वह आत्मा है जो साधना मे सलग्न रहे। जो आत्मा साधना मे जुड गयी और अपने अस्तित्व को उपलब्ध करने मे सलग्न हो गयी, वह है—साधु। साधु कोई व्यक्ति नही, साधु साधना का प्रतिरूप है। साधु का मतलब है—साधना। जो आत्मा साधना मे तत्पर है, उस आत्मा का नाम है—'साधु' और जो आत्मा साधना करते-करते सिद्धि तक पहुच गयी, उस आत्मा का नाम है—'सिद्ध'।

साधु प्रारम्भ है और सिद्ध निष्पत्ति। साधु से साधना प्रारम्भ होती है और सिद्ध तक पहुचकर सम्पन्न हो जाती है। आत्मा की वह अवस्था जिसमे साधना का प्रारम्भ होता है और आत्मा की एक वह अवस्था जिसमे साधना करते-करते सिद्धि तक पहुच जाए, इस प्रकार हमारे दो ध्रुव बन गए। एक ध्रुव है—साधु और दूसरा ध्रुव है—सिद्ध। अर्हत्, आचार्य, उपाध्याय—ये इन दोनो के मध्य मे आ जाते हैं। साधु सबसे बडा पद है। मैं मानता हू कि आचार्य का भी बडा महत्त्व है, किन्तु एक दृष्टि से साधु का ज्यादा महत्त्व होता है। यह बहुत बडा पद है। साधु से ही आचार्य निकलता है, साधु से ही उपाध्याय निकलता है, साधु से ही अर्हत्

निकलता है। आकाश से अर्हत् नहीं टपकता और न ही आचार्य और उपाध्याय आकाश से उतरते हैं। सब साधु से ही निकलते हैं, साधना से ही निकलते हैं। जो साधना के उत्कर्ष पर चले जाते हैं, वे अर्हत् बन जाते हैं, जो साधना की उच्च भूमिका पर चले जाते हैं, वे आचार्य बन जाते हैं और जो ज्ञान की विशिष्ट साधना मे चले जाते है, वे उपाध्याय बन जाते हैं।

मूल दो ही हैं—साधु और सिद्ध। अर्हत् को भी सिद्ध बनना है, आचार्य को भी सिद्ध बनना है और उपाध्याय को भी सिद्ध बनना है। अर्हत् भी साधु रहे हैं, आचार्य भी साधु रहे हैं और उपाध्याय भी साधु रहे है। मूल दो ही ध्रुव हैं और ये तीन इन्ही दो ध्रुवों के बीच मे होते हैं। मूल बात है कि आत्मा को मगल माना गया है। आत्मा ही उत्कर्ष भावना और साधना है। इसलिए इसे मगल माना गया है।

सबसे बड़ा मगल होता है—आत्म-तत्त्व। आत्मा को हम समझें। ज्ञान मंगल, आनन्द मगल और शक्ति मगल। मन मगल, वचन मगल और काय मंगल—ये हमारे मगल हैं। मन मगल भी बनता है और मन अमंगल भी बनता है। मन, वचन और काय—ये जब वश मे हो जाते हैं तो मंगल बन जाते हैं और वश में नही होते है तो ये अमगल बन जाते हैं।

एक व्यक्ति गुरु के पास गया और बोला, "गुरुदेव! कोई ऐसा मंत्र बताएं जिससे देवता भी मेरे वश मे हो जाएं।"

गुरु ने कहा, "तुम्हारे नौकर-चाकर तुम्हारे वश मे हैं?"

"नही।"

"तुम्हारा परिवार तुम्हारे वश मे है?"

"नही।"

"बेटा-बेटी वश मे है?"

"नही।"

"पत्नी तो वश मे होगी?"

"नही, वह भी नही।"

"तुम्हारा मन तो तुम्हारे वश मे है?"

"नही।"

"अरे भाई! जब तुम्हारे नौकर-चाकर, तुम्हारा परिवार, तुम्हारी सतानें, पत्नी और यहा तक कि स्वय तुम्हारा मन तक तुम्हारे वश मे नही है तो फिर देवता तुम्हारे वश मे कैसे होंगे? सबसे पहले तो अपने मन को वश मे करो।"

देवता को वश मे करने से पहले मन को वश मे करो, शरीर को वश मे करो और वाणी को वश मे करो। आप कोई भी साधना करें—चाहे व्यवहार की, चाहे परमार्थ की, किन्तु तीन गुप्तियो के बिना कोई वश मे नही होता। कितना बड़ा

सूत्र दिया था भगवान् महावीर ने तीन गुप्तियों की साधना का—मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। आदमी तीन गुप्तियों की साधना नहीं करता, वह अपने मन, वचन और शरीर को वश में किए बिना दूसरो को वश मे करना चाहता है, किन्तु ऐसा न कभी हुआ है और न कभी होगा। हम सर्वप्रथम अपने शरीर की साधना करे, कायोत्सर्ग की साधना करे। शरीर को वश मे करें और अपने मन को वश मे करे। सब वश मे हो जाएगे तो फिर देवता को साधने की जरूरत नही होगी। देवता स्वय अपने आप प्रकट हो जाएगे। आप देवता को क्यो साधे ? उस देवता से बडा देवता तो आपके भीतर बैठा हुआ है। वह है—दिव्य आत्मा, दिव्य चेतना। आप अपनी दिव्य चेतना को जगाए, दूसरे को जगाकर क्या करेगे ? वे कभी-कभी जगाने वाले की ही बलि ले लेते हैं। उनको न जगाए।

जिसने अपने देवत्व को जगा लिया, अपने आप को वश मे कर लिया उसके लिए मगल का द्वार खुल गया। मत्र बहुत है। हर परम्परा मे है। वैदिक परम्परा मे भी बहुत मत्र हैं। गायत्री जैसा शक्तिशाली मत्र है। अथर्ववेद का पूरा भाग मत्रो से भरा है। बौद्ध परम्परा मे भी बहुत सारे मत्र हैं। बौद्धो ने भी मत्रो का बहुत विकास किया। जैन परम्परा मे भी मत्रो का प्रयोग होता है। तीनो परम्पराओ मे मत्रो का बहुत विकास हुआ, किन्तु नमस्कार महामत्र एक अनुपम मत्र है। इसमे किसी का नाम नही। न महावीर का नाम है और न किसी अन्य देवता का। किसी की अर्चना नही, किसी की पूजा नही। केवल आत्म-तत्त्व की आराधना। अर्हत् जैन परम्परा मे भी हो सकता है और अन्य परम्परा मे भी। सिद्ध के लिए कोई ठेकेदारी नही। ऐसा नही कि जैन परम्परा मे ही सिद्ध हो, अन्य परम्पराओ मे नही। इतना उदार दृष्टिकोण भगवान् महावीर ने दिया कि एक गृहस्थ के वेश मे भी सिद्ध हो सकता है और एक साधु के वेश मे भी सिद्ध हो सकता है। जैन वेश मे भी सिद्ध हो सकता है और अन्य परम्परा के वेश मे भी सिद्ध हो सकता है। गृहस्थ के वेश में हमारी परम्परा मे सबसे पहले मोक्ष जाने वाली आत्मा है—भगवान् ऋषभ की माता मरुदेवा। वह हाथी पर बैठी है गृहस्थ के वेश मे। उसी समय मोक्ष चली गयी। हमारी परम्परा मे भी गृहस्थ के वेश में साधु-साध्वी की दीक्षा हुई है। न वेश के साथ कोई आत्मा का विरोध है, न हाथी पर चढने के साथ। मूल प्रश्न है—आत्मा की निर्मलता, आत्म-चेतना का जागरण।

यह ठीक है कि व्यवहार के जगत् का पालन करना पड़ता है, किन्तु सूक्ष्म नियम है—अन्तरात्मा के जागरण का। बाकी सारे नियम नीचे रह जाते है। 'आत्मा को वश मे करना'—यह वशीकरण सूत्र हमारी समझ मे आ जाए तो कुछ भी जानना शेष नही रह जाएगा। सबसे बडा वशीकरण सूत्र है—तीन गुप्तियो की साधना। सबसे बडा वशीकरण सूत्र है—प्रेक्षा ध्यान। ये वशीकरण सूत्र हमारी समझ मे आ जाए तो आगे मगल, पीछे मगल। फिर कोई अमगल नही।

मंगल पाठ

'अरहंता मंगल, सिद्धा मगलं, साहू मगल, केवली पण्णत्तो धम्मो मगल ।'

मगल सूत्र का दूसरा परिच्छेद है—मगल पाठ। यह मगल सूत्र जैन परम्परा मे सबसे अधिक प्रचलित मगल सूत्र है। प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति के प्रारम्भ मे इस मगल सूत्र का उच्चारण और ध्यान किया जाता है। चार मगल है—अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म। नमस्कार महामत्र मे जहा पचपरमेष्ठी मगल है, वहां इस मगल सूत्र मे चार मगल हैं। अर्हत्, सिद्ध और साधु—तीन वे ही जो नमस्कार महामत्र मे है और एक धर्म जो इसमे और जुड गया। वास्तव मे धर्म ही मगल होता है। मगल केवल एक धर्म ही है। अर्हत् इसलिए मगल है कि वे स्वय धर्म बन जाते हैं। सिद्ध इसलिए मगल है कि वे धर्म की साधना करते-करते धर्म को स्वभाव मे बदल लेते हैं। साधु इसलिए मगल है कि वे धर्म की साधना करते है। वास्तव मे एक ही मगल है—धर्म। अधर्म है—अमगल और धर्म है—मगल। गौतम स्वामी ने केशी स्वामी के प्रश्न के उत्तर में कहा—धर्म ही शरण है। धर्म ही द्वीप है या धर्म ही दीप है। धर्म आधार है, गति है, सब कुछ धर्म है। इस ससार मे धर्म के सिवाय वास्तविक मगल कोई भी नही है। कोई पदार्थ नही है। औपचारिक पदार्थ मगल होते है। पदार्थों को मगल माना जाता है और वे कुछ मगलमय वातावरण का निर्माण भी करते है। किन्तु जब हम सूक्ष्म जगत् मे प्रवेश कर स्थिति का विश्लेषण करते हैं तो पता चलता है कि धर्म के सिवाय दूसरा कोई भी तत्त्व मगल नही है। फिर प्रश्न होगा कि कौन-सा धर्म मगल है? जैन धर्म, बौद्ध धर्म, वैदिक धर्म और ईसाई धर्म—ये बहुत सारे धर्म है और छोटे-मोटे धर्मों की तो कोई गणना ही नही है। ये धर्म तो बड़े माने जाते है, उपधर्मों की तो कोई गणना ही नही है। प्रश्न स्वाभाविक है कि कौन-सा धर्म मगल है? किसको मगल माने? क्या जैन धर्म को मगल माने? जैन लोग कहेगे—जैन धर्म को अवश्य मगल माना जाए। किन्तु दूसरे धर्म वाले कहेंगे—यदि जैन धर्म मगल है तो वैदिक

धर्म मगल क्यों नही ? एक विवाद खडा हो जाएगा। भगवान् महावीर ने एक उदार और व्यापक दृष्टिकोण से धर्म का प्रतिपादन किया जिसमे धर्म के साथ कोई विशेषण नही जुडता। उन्होने कभी नही कहा कि जैन धर्म मगल है या सबसे प्रधान है। कभी नही कहा। और सच तो यह है कि महावीर के समय मे 'जैन धर्म' जैसा कोई नाम था ही नही। यह नाम तो भगवान् महावीर के निर्वाण के सात-आठ शताब्दियो के बाद प्रचलित हुआ है—जैन धर्म। उस समय इसको श्रमण धर्म या अर्हत् धर्म कहते थे, निर्ग्रन्थ प्रवचन कहते थे। निर्ग्रन्थ धर्म यानी निर्ग्रन्थो का धर्म अर्थात् उन लोगो का धर्म, जिनके कोई ग्रन्थ नही है, कोई परिग्रह नही है, कोई गाठ नही है, कोई उलझन नही है। इसका अर्थ होता है—आत्मा का धर्म। इस धर्म का नाम था—सामायिक धर्म, श्रमण धर्म, अर्हत् धर्म या निर्ग्रन्थ धर्म, समता वालो का धर्म, आत्मा का धर्म। जब हम आत्मा का धर्म कहते है तो सारे विशेषण यहा समाप्त हो जाते है। फिर यह विवाद नही होता कि कौन-सा धर्म मगल है ? यानी वह धर्म मगल है, जो आत्मा का धर्म है। आत्मा का धर्म अर्थात् आत्मा का स्वभाव। धर्म वस्तुत आत्मा से भिन्न हो ही नही सकता। यदि हम उष्णता को अलग कर दे और आग को अलग कर दे तो क्या बचेगा ? अग्नि तभी अग्नि है, जब तक उसमे गर्मी है, दाहकता है, जलाने की शक्ति है। पानी मे निर्मलता है, शीतलता है तो पानी है। यदि उसमे मे ठडकपन को हटा दे तो फिर वह पानी कहा रह जाएगा ?

निर्मलता पानी का धर्म है, ताप अग्नि का धर्म है, वैसे ही आत्मा का भी अपना धर्म है और वह है—ज्ञान, आनन्द, शक्ति। शक्ति आत्मा का धर्म है। आनन्द आत्मा का धर्म है, ज्ञान आत्मा का धर्म है, इसलिए कहा जा सकता है कि शक्ति मगल है, ज्ञान मगल है और आनन्द मगल है। प्रश्न तो फिर भी होगा, क्योकि भाषा की प्रकृति ही ऐसी है। एक बात जब कहते है शब्दो के माध्यम से तो दूसरी बात खडी हो जाती है। इसलिए खडी होती है कि शब्दो मे पूरी बात कहने की ताकत नही है। शब्दो के द्वारा पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति ही नही की जा सकती। हम जो भी कहते है, वह एक कोण से कहते है, एक दृष्टि से कहते है और जब एक दृष्टि से कहते है तो दूसरी दृष्टिया अपने आप सामने आ जाती है। नये-नये प्रश्न उभरकर आते है।

प्रश्न पुन वही—कौन-सी शक्ति मगल है ? वह शक्ति मगल होगी, जो दूसरो को उठाए। वह शक्ति मगल नहीं हो सकती जो दूसरो को पछाडे। शक्ति के द्वारा दोनो काम किए जा सकते है—किसी को उठाया भी जा सकता है और किसी को पछाडा भी जा सकता है। पछाडने वाली शक्ति मगल नही हो सकती। वही शक्ति मंगल हो सकती है, जो दूसरो को उठाने वाली है।

एक धार्मिक गुरु प्रवचन कर रहे थे। अपने प्रवचन मे आहार-सयम पर बल

देते हुए वे कह रहे थे—"धर्म का प्रारम्भ आहार के संयम से होता है। उपवास, ऊनोदरी, स्वल्प आहार तथा रस का परित्याग करो।" आहार-संयम पर उन्होंने बहुत लम्बी चर्चा प्रस्तुत की। प्रवचन मे बैठा एक आदमी उठकर खड़ा हुआ और बोला—"महाराज! आपने जो बात कही, वह समझ मे नही आयी। आहार-संयम करने का मतलब होता है—शरीर को दुबला-पतला बना लेना। आपको पता है कि कुश्ती लडनेवाले मल्ल कितना खाते है? एक मल्ल के नाश्ते की तालिका को यदि पढा जाए तो आश्चर्य होगा। साधारण शरीर वाला आदमी तो सोच भी नही सकता कि इतना खाया जा सकता है! खूब खाते हैं और व्यायाम करके शरीर को मजबूत बनाते हैं। आपके उपदेश की यह बात समझ में नही आती कि कम खाना चाहिए। कम खाने से तो शरीर कमजोर ही बनेगा और कमजोर शरीर किस काम का?"

बात सुनी और सुनने के बाद सन्यासी ने कहा—"भाई! मल्ल इतना खाता है, शरीर को मजबूत और ताकतवर बनाता है, बताओ, फिर क्या करता है?"

"दूसरो को पछाड देता है।" जिज्ञासु आदमी झट बोल पडा।

सन्यासी ने कहा—"भाई! तुम्हारी बात ठीक है, किन्तु मैं उस शक्ति को शक्ति नही मानता जो दूसरो को पछाडती हो! मै तो यह चाहता हू कि व्यक्ति ऐसी शक्ति अर्जित करे, जो दूसरो को पछाडे नही, किन्तु दूसरो को उठाए। मल्लो का काम तो दूसरो को पछाड़ना है।"

वह शक्ति किसी काम की नही होती, जो दूसरो को पछाडे। वह शक्ति ही मगल है, जो दूसरो को उठाए। आज तक के इतिहास मे यही मिलेगा कि उन्ही लोगो ने सारी जनता को उठाने का, जगाने का प्रयत्न किया, जिन्होने आहार-सयम किया है। जिन्होने इस रहस्य को समझा है कि भोजन की मात्रा को सीमित करके एक ऐसी निर्मल शक्ति पैदा की जा सकती है, जो दूसरो को उठाने का काम करती है, दूसरो को पछाडने मे कभी नही लगती। जिन लोगो ने खूब डटकर खाया, खाने को ही परम कल्याण समझा, उनकी शक्ति सदैव दूसरो को पछाडने मे ही लगी रही। भोजन-भट्टो ने कभी भी दुनिया के लोगो को उठाने का प्रयत्न नही किया, सकल्प भी नही किया। उनमे ऐसी ताकत भी नही आती जो औरो को उठा सके। उन लोगो मे सात्विक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होने आहार का सयम करना सीखा, भोजन का नियन्त्रण सीखा, अपनी जीभ की लोलुपता को वश मे किया। उनमे जो शक्ति जागी, वही शक्ति वास्तव मे मगल होती है।

'अरहता मगल'—अर्हन्त इसलिए मगल है कि उनमे अनन्त शक्ति जाग जाती है, असीम शक्ति जाग जाती है। जब तक हम पदार्थ की सीमा से बधे हुए है, तब तक असीम शक्ति का जागरण नही हो सकता। जब तक हम पदार्थ की लोलुपता के साथ जुड़े हुए हैं, तक तक अनन्त शक्ति का जागरण नही हो सकता।

यह अनन्त और असीम शक्ति तब जागती है, जब हम अपने चैतन्य की सूक्ष्म शक्ति के साथ जुड जाते हैं। आज की हमारी बडी समस्या है कि हम स्थूल के साथ जुडे हुए है, सूक्ष्म के साथ हम नही जुडते। हमारा एक बहुत विशाल जगत् है—सूक्ष्म जगत्, जिसे हम नही जानते। हम केवल स्थूल के साथ अपनी गाडी को घसीटे चले जा रहे है। मुझे आश्चर्य तो इस बात का होता है कि आज के इस वैज्ञानिक युग मे भी हम अपनी दृष्टि को सूक्ष्म नही बना रहे है। जहा परमाणु का विस्फोट हो चुका, जहा सौरमडल की रश्मियो का विश्लेषण हो चुका और उनके प्रभावो का वर्णन हो चुका, फिर भी हम सूक्ष्म की ओर ध्यान नही दे रहे है। एक बार सूर्य-ग्रहण होने वाला था। सैकडो वैज्ञानिक उस ग्रहण का अध्ययन करने मे जुटे हुए थे। विदेशो से सैकडो-सैकडो वैज्ञानिक उन देशो मे पहुच गए जहा कि पूरा ग्रहण होने वाला था। ग्रहण के प्रभावो का कितनी सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाता है। पूरे ग्रहण के कितने प्रभाव होते हैं, किस प्रकार की रश्मिया आती है, किस प्रकार किरणो का विकिरण होता है और किस प्रकार मनुष्य उनसे प्रभावित होते है। कल ही मैंने पढ़ा था कि वे लोग ज्यादा प्रभावित होते है, जिनका मस्तिष्क पहले से ही थोडा अस्त-व्यस्त या विक्षिप्त होता है। गर्भवती स्त्रियो पर ज्यादा प्रभाव पडता है। लोगों की यह धारणा है कि ग्रहण को प्रत्यक्ष या खुली आखो से नही देखना चाहिए, थाली मे पानी भरकर उसमे देखा जा सकता है। किन्तु इस ग्रहण के बारे मे तो यह जानकारी मिली थी कि पानी मे भी इसको नही देखना चाहिए। सभव है कि इससे दृष्टि क्षीण हो जाए। सूक्ष्म जगत् मे, हमारे आस-पास मे किस प्रकार की घटनाए घटित होती है, उन घटनाओ पर हम ध्यान नही देते, केवल स्थूल दृष्टि से माप लेते है।

सम्यक्‌दृष्टि वह व्यक्ति होता है जिसमे स्थूल के प्रति आस्था टूट जाती है। केवल स्थूल सत्यो मे आस्था रखने वाला व्यक्ति सम्यक्‌दृष्टि नही हो सकता। वह मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यक्‌दृष्टि होने का अर्थ है—हमारी स्थूल और सूक्ष्म दोनो के प्रति समान दृष्टि बन जाए। हम केवल यह मानकर न चले कि यह शरीर ही हमारा अस्तित्व है। हम यह मानकर चलें कि इस शरीर से परे भी हमारा अस्तित्व है। यदि यह दृष्टि जाग जाए, अपने सूक्ष्म शरीर की दृष्टि साफ हो जाए तो दृष्टिकोण सम्यक् बन जाता है। दृष्टि सम्यक् होने पर इस सचाई को समझने मे कोई कठिनाई नही होती कि दृष्टि मंगल है।

दूसरी बात है—आनन्द मगल है। आनन्द तो स्वय मगल है, सुख तो स्वय मगल है, किन्तु यह ऐकान्तिक बात नही है। कुछ लोगो का आनन्द ऐसा है, कि वह आनन्द दूसरो के लिए अभिशाप बन जाता है। जिनका आनन्द दूसरो के लिए अभिशाप बन जाए, जिनका सुख दूसरो के लिए दु ख बन जाए, वह मगल नही होता। मगल वह होता है—जो दूसरों के लिए अभिशाप न बने, दूसरो के

लिए दुःख और समस्या न बने। आदमी को धन से सुख मिलता है और वह मानता है कि धन सबसे बड़ा सुख है। किन्तु धन मिला, समृद्धि बढ़ी तो वह दूसरों के लिए दुःख का कारण बन गया। पड़ोसी के लिए दुःख का कारण बन गया। पड़ोसी बेचारा बोल नही सका। एक प्रोफेसर ने बीकानेर मे एक बात सुनाई—कि मैंने देखा एक बड़ा आदमी था। उसका पडोसी कुछ गरीब था। धनवान व्यक्ति का नौकर अपने सेठ के घर से कचरा निकालता और बेचारे पड़ोसी के दरवाजे के सामने आकर डाल देता। उसने धनवान पड़ोसी से शिकायत की कि यह तो अच्छी बात नही है। सेठ ने कहा—अच्छा-बुरा क्या होता है, यह तो करने वाला जाने, नौकर की बात नौकर जाने। ऐसी धौसपट्टी जमाई कि बेचारा कुछ बोल ही नही पाया। करता भी क्या? वह उससे लड तो सकता नही था। चुप हो गया। ऐसा आनन्द और ऐसी समृद्धि जो स्वय को सुख दे और दूसरो के लिए कठिनाई बन जाए, समस्या बन जाए, वह समृद्धि किसी काम की नही। अपनी समृद्धि को कोई बाटता नही, अपने आनन्द को बाटता नहीं, किन्तु अपने अहंकार और दुःख को हर कोई दूसरो मे बाटना चाहता है। दुःख को दूसरो मे बांटने वाले बहुत मिलते हैं, मिटाने वाले कम और शायद इस पदार्थ जगत् मे होने वाले आनन्द का सिद्धान्त ही यह है कि दूसरो के कधों पर बन्दूक रखकर छोडी जाए। यह सामान्य सिद्धान्त बन गया है आज का।

आप सच मानें, यह सम्पदा, सम्पत्ति हमेशा दूसरो के आधार पर होती है। आज भारतीय लोगो की समस्या है कि नौकर नही मिलते। अरे, दो हाथों से काम लो। उपनिषद् मे ऋषियो ने कहा है—जिनके पास बीस अगुलिया होती हैं, उनको किसी बात की चिन्ता नही होती। आज जब हमने अपने आप को ही भुला दिया तो अपनी अगुलियो पर भरोसा कैसे होगा? आज यह भरोसा नही रहा। हर आदमी को नौकर चाहिए और नौकर महगे व दुर्लभ होते जा रहे है।

सम्पदा के साथ जुडा हुआ है—दूसरो का दुःख। पदार्थ के साथ-साथ होने वाले सुख, समृद्धि और आनन्द की गाथा यही रही है कि दूसरे—उससे छोटे एव दुःखी उसके साथ जुडे हुए होने चाहिए। आदमी दूसरो पर बहुत भरोसा करता है, क्योंकि दृष्टिकोण ऐसा बन जाता है कि वह दूसरो से ही काम लेना चाहता है। और तो क्या धर्म के मामले मे भी यही चाहता है कि दूसरो से करवा लू। एक घटित घटना है—साध्वी ने एक बहन से कहा—कल या तो तुम उपवास रखना, या किसी से करवा लेना। बहन ने स्वीकृति दे दी। तीसरे दिन बहन आयी। साध्वी ने पूछा—उपवास किया या करवा दिया? बहन बोली—मैं तो नही कर सकी, करवा दिया। साध्वी ने पूछा—किससे? बहन बोली—अपनी भैंस से चौविहार उपवास करवा दिया।

ऐसा क्यो होता है? ऐसा इसलिए होता है कि हमारा भरोसा दूसरों से

काम करवाने में ज्यादा है। शायद खाने का प्रसंग होता तो भैंस से कभी नहीं करवाता। ऐसा ही कुछ हमारा विश्वास बन गया। बड़ा अजीब विश्वास हो गया। वास्तव मे यह आनन्द, यह सुख मगल नही हो सकता। मंगल वह आनन्द होता है, जहां समृद्धि के लिए दूसरों को गरीब न बनाना पडे, अपने ऐश्वर्य और प्रभुत्व के लिए दूसरों को नीचा न दिखाना पडे।

आचार्य भिक्षु जंगल मे बैठे थे पेड के नीचे। एक भाई उधर से गुजरा। देखा, कोई साधु पेड के नीचे बैठा है। प्रणाम किया और पूछा—"महाराज ! आपका क्या नाम है ?"

"मेरा नाम भीखण है।"

"भीखण जी आप ही है ? वही तेरापथी भीखण ? मेरे मन मे तो एक दूसरी ही तसवीर थी आपकी। मैंने तो आपकी बडी महिमा, यश और कीर्ति सुनी थी। सोचता था—कितने हाथी, घोडे, रथ तथा सेवक आदि साथ मे रहते होगे आपके। पर आप तो इस निर्जन एकान्त मे अकेले ही दिखाई दे रहे है। सारी तसवीर खण्डित हो गई।"

आचार्य भिक्षु ने कितनी मार्मिक बात कही। उन्होने कहा—मै अकेला हू, तभी यह प्रशसा है। मेरे पास कोई आडम्बर नही है, इसीलिए इतना नाम है।

यह आनन्द होता है मगल, जिसमे दूसरो को नीचा नही बनाया जाता, नौकर नही बनाया जाता, दूसरो को हीन नही बनाया जाता, बल्कि दूसरो को सुखी बनाया जाता है।

हम लोग एक दिन गोचरी के लिए गए। एक छोटे बच्चे ने हाथ मे बिस्कुट ले रखा था। आग्रह करने लगा तो मैंने पूछा, "बताओ, तुम खाओगे या दोगे ?" बोला,"दूगा।" हमने कहा,"तो फिर एक दे दो।" उसने कहा,"नही, सब दूगा।" हमने सोचा—बच्चा है, इसलिए ऐसा कह रहा होगा, तो माता ने कहा,"जब तक इसके हाथ के सब बिस्कुट नही ले लेगे, यह रोएगा, मानेगा नही।" मेरे मन मे एक चिन्तन आया—यह दान वह दान नही है, जहां देने वाले का हाथ ऊचा और लेने वाले का हाथ नीचा रहे। देने वाला अपने हाथ को ऊचा और लेने वाले के हाथ को नीचा माने। यह वह दान है, जहा लेने वाला अपने आपको धन्य नही मानता, किन्तु देने वाला देकर अपने आपको धन्य मानता है, कृतार्थ मानता है। बहुत बडा अन्तर है। एक आदमी देता है और देते समय उसका अहकार इतना जाग जाता है कि अपने आपको धन्य और लेने वाले को तुच्छ मान लेता है। साधु को दिया जाने वाला दान किसी त्यागी-तपस्वी को दिया जाने वाला दान ऐसा दान नही होता कि देने वाला अपने आपको बहुत बड़ा दानी और अहकारी माने। उसे अपने को धन्य मानना चाहिए, कृतार्थ मानना चाहिए और उसमे यह भावना जागृत होनी चाहिए कि ऐसा दान देकर मैं सफल हो गया, कृतकृत्य हो गया। वह

समृद्धि, वह आनन्द जो दूसरों को हीन न बनाए, दूसरों को छोटा न बनाए, सचमुच वह मंगल होता है।

तीसरी बात है—ज्ञान मगल होता है। ज्ञान वह मंगल होता है, जो दूसरों के चैतन्य को जगा दे। दीया बुझे नही, जाग जाए। आचार्य की एक विशेषता अनुयोगद्वार सूत्र मे बतलाई गई है कि जैसे एक दीए से हजार दीए जल जाते हैं, उसी प्रकार आचार्य वह होता है, जिसके ज्ञान से हजारो दीपक जल जाते है। दीप को जलाए, बुझाएं नही। एक संस्कृत कवि ने बहुत मार्मिक श्लोक कहा है। इतना मार्मिक कि इसे सस्कृत साहित्य का मैं एक उत्कृष्ट श्लोक मानता हू—

तिमिरलहरीमुर्वीमुर्वि करोतु विकस्वरां,
हरतु निवरां निद्रामुद्रां क्षणाद् गुणिनां गणात्।
तदपि तरणे! तेज.पुञ्ज प्रियो न ममैष ते,
किमपि तिरयन् ज्योतिष्चक्र स्वजातिविराजितम्॥

—सूर्य! तुम अधकार का नाश करते हो, सारी पृथ्वी को विकसित करते हो, तुम नीद का हरण कर लोगो को जगाते हो, फिर भी तुम्हारा यह तेजपुज मुझे अच्छा नही लगता, क्योकि तुम अपनी बिरादरी के छोटे-मोटे सदस्यो को तिरोहित कर अकेले चमकने मे आनन्द मानते हो।

कितने मर्म की बात कवि ने कही है। वह प्रकाश, वह ज्ञान अच्छा नही होता जो केवल अकेला चमके, सबको छिपा दे। मैं बहुत बार कहा करता—आचार्य तुलसी की सबसे बडी महानता यही है कि वे अकेले नही चमके। पूरे संघ को चमकाने के साथ-साथ चमके है। अकेले चमकते तो शायद वही स्थिति होती। इतिहास मे ऐसा हुआ है। कोई एक मुखिया हो गया तो फिर उसका यही प्रयत्न होता है कि दूसरा और कोई नाम उभरकर न आए, सबको पीछे ही धकेलने की कोशिश। ऐसे अनेक व्यक्ति हमे भी यही सलाह देने पहुच जाते है। वे कहते हैं, "महाराज! ध्यान दो, आप इतने साधु-साध्वियों को पढा रहे है, किन्तु एक दिन ये ऐसे सिर पर हावी हो जाएगे कि आप पश्चात्ताप करेगे। नीति की बात तो यह है कि एक आचार्य या कुछ प्रमुख साधु पढ गए, बाकी को तो पातरा ढोने के काम मे ही लगाए रखो, जिससे कि ठीक-ठाक काम चलता रहे।" ऐसे सुझाव एक नही, कई बार आए है। एक दृष्टि से सोचे तो यह ठीक है। राजनीति की दृष्टि से तो यह ठीक है कि जनता को इतना बेवकूफ बनाए रखो कि वह अपने-अपने अधिकारो की माग न कर सके। कुर्सी बची रहे और राज्यसत्ता कायम रहे। किन्तु इस प्रकार का चिन्तन सर्वथा अनुचित है। वास्तव मे वही व्यक्ति महान होता है जो स्वय के साथ-साथ दूसरो को भी चमकाता है।

वही ज्ञान मंगल होता है, जो दूसरो को जगाए, बुझाए नही। वही आनन्द मगल होता है, जो दूसरो मे दु ख न बाटे बल्कि उनमें आनन्द बिखेरे। वही शक्ति मगल होती है जो दूसरो के लिए पीडाकारक न बने। इसीलिए हम 'चत्तारि मगल' सूत्र को मगल मानते है और प्रवृत्ति के प्रारम्भ मे इस महामगल का उपयोग करते है।

समर्पण का सूत्र : चतुर्विंशतिस्तव

चतुर्विंशतिस्तव मगल है। दूसरे शब्दो मे यह हमारा समर्पण है। लोगस्स का सूत्र अर्हता का सूत्र है, समर्पण का सूत्र है। लोगस्स सूत्र मे २४ तीर्थंकरो के प्रति एक साधक के द्वारा समर्पण किया गया है। साधना के क्षेत्र में समर्पण का बहुत बडा मूल्य होता है। जिसमे श्रद्धा और समर्पण—ये दो तत्त्व नही होते, वह व्यक्ति साधना के क्षेत्र मे कभी नही उतर सकता। साधना के क्षेत्र मे पहला पैर रखने से पूर्व उसे श्रद्धा और समर्पण का अभ्यास करना होता है। श्रद्धा का अपना मूल्य होता है, बहुत बड़ा मूल्य होता है। मैं श्रद्धा के विपक्ष मे भी बहुत चर्चा किया करता हू। किन्तु वह एक क्षेत्र का भेद है। एक विपर्यय हो गया, एक उल्टी बात हो गयी कि जहा श्रद्धा होनी चाहिए, वहा हमारे मन मे सन्देह हो गया। जहां सन्देह और तर्क होना चाहिए, वहा हम श्रद्धा का प्रयोग कर रहे है। जहा सत्य की खोज, सत्य की शोध का प्रश्न है, वहा श्रद्धा की कोई आवश्यकता नही है। वहा तो शल्य-चिकित्सा होनी चाहिए। मैने भगवान् महावीर, आचार्य भिक्षु के विचारो की शल्य-चिकित्सा की तो ऐसा लग सकता है कि मुझमे श्रद्धा नही है। मैं मानता हू कि इस क्षेत्र मे श्रद्धा होनी ही नही चाहिए। जहां सत्य को समझना है, वहा हमारे सामने कसौटी होनी चाहिए, वहा हमारे हाथ मे तुला होनी चाहिए कि हम तोल सके, कसौटी कर सकें। वहा हाथ मे चाकू होना चाहिए कि हम शल्य-चिकित्सा कर सके, चीड-फाड कर देख सके। सत्य को स्वीकार ऐसे ही नही किया जाता। उसे स्वीकार करने के लिए बहुत खपने-तपने की जरूरत होती है।

आचार्य भिक्षु को एक भाई गालिया दे रहा था। लोगो ने कहा—महाराज! कितना उद्दड है यह आदमी! निष्प्रयोजन आपको गालिया बक रहा है। आचार्य भिक्षु तो बहुत मर्मज्ञ थे। वे ऊपर को नही देखते थे, चमडी को नही देखते थे। वे अन्तस्तल तक पहुंचते थे, गहराई तक जाकर देखते थे। उनकी प्रज्ञा इतनी जागृत थी कि वे प्रत्यक्षदर्शी नही किन्तु परोक्ष मे जाकर, भीतर मे जाकर वस्तु

का मूल्यांकन करती थी। आचार्य भिक्षु ने कहा—जो गालियां दे रहा है, वही मेरा सबसे बडा भक्त होने वाला है। लोगो ने कहा—यह कैसे ? आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई आदमी कुम्हार के घर एक घडा खरीदने जाता है तो सबसे पहले घडे को बजाकर देखता है कि वह फूटा हुआ तो नही है। जब दो-चार पैसे के घडे की इतनी परख करता है तो भला जिसे गुरु मानना है उसे दस-बीस गालियां दिए बिना कैसे स्वीकार करे ? परीक्षा करेगा, पहले देखेगा, तोलेगा कि गुरु मे समताभाव कितना है, गालियो का क्या प्रभाव होता है उस पर। पूरी जाच-पडताल करेगा, फिर स्वीकार करेगा। ऐसा ही हुआ। गालिया बकने वाला वही व्यक्ति एक दिन आचार्य भिक्षु का बडा श्रावक बन गया।

सत्य के क्षेत्र मे—जहा सत्य को जानना है, उसे देखना है, वहा बुद्धि का उपयोग होना चाहिए, तर्क का उपयोग होना चाहिए, विचार का उपयोग होना चाहिए और हो सके तो अनुभव का उपयोग होना चाहिए। श्रद्धा का क्षेत्र है अपनी सकल्प-शक्ति का विकास, भावना का प्रयोग। जहा भावना का प्रयोग करना है, जहा सकल्प-शक्ति का उपयोग करना है, सृजन करना है, कुछ निर्माण करना है, वहा श्रद्धा का पूरा उपयोग होना चाहिए। जहा श्रद्धा मे एक भी छिद्र बन जाता है वहा फूटी नौका बन जाती है। डुबाने वाली नौका बन जाती है। तारने वाली नही। भगवान् महावीर की भाषा मे—भावना एक नौका है। उसमे यदि छेद नही तो वह पार पहुचा देती है। एक भी छेद हो गया तो बीच मे ही डुबो देती है।

श्रद्धा है हमारी भावना मे। बडा चमत्कार है। जिस व्यक्ति मे भावना का बल आ गया, वह अद्भुत काम कर जाता है। अभी दो-चार दिन पूर्व एक चर्चा चल पडी। डॉ० टाटिया ने कहा—दर्द बहुत है। मैंने कहा—रग का प्रयोग करें, भावना का प्रयोग करें। लाल रग का ध्यान करें। ध्यान किया, भावना का प्रयोग किया। फिर आए और कहने लगे कि इतनी गर्मी हो गई की रात-भर नीद नही ले सका। ऐसा लगा जैसे सारे शरीर मे आग लग गई हो। कैसे हो सकता है यह ? क्यों हुआ ? यदि हम भावना का प्रयोग करें तो जैसा अनुभव करेगे वैसा हो जाएगा।

बीकानेर मे शिविर चल रहा था। नमस्कार मंत्र का प्रयोग चल रहा था। लाल रग का प्रयोग करवाया। वह दिन शिकायतो का दिन रहा। कोई कहता—आग लग रही है। कोई कहता—सिर फटा जा रहा है। बडी समस्या पैदा हो गई। सारा दिन गर्मी का दिन रहा। कई व्यक्ति शिकायतें लेकर पास में आते रहे। ऐसा क्यों होता है ?

'चदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहिय पयासयरा।
सागरवरगभीरा, सिद्धा सिद्धि मम दिसतु ।।'

यह लोगस्स का सात श्लोकों में से एक श्लोक है। भावना का बहुत बड़ा प्रयोग है। पहले चरण का अर्थ है—चन्द्रमा की भांति निर्मल। दूसरे चरण का अर्थ है—सूर्य की भांति प्रकाशक। तीसरे चरण का अर्थ है—समुद्र की भांति गम्भीर। चौथे चरण का अर्थ है—जो सिद्ध हैं वे हमे सिद्धि प्रदान करें। बहुत साधारण-सा अर्थ लगता है, किन्तु समर्पण और श्रद्धा के साथ इस भावना का प्रयोग करें तो चमत्कार घटित हो सकता है। श्रद्धा और समर्पण के साथ मं जिसने तादात्म्य स्थापित कर लिया उसे ऐसा लगेगा कि यह क्या हो गया। बड़ा अजीब-सा हो रहा है। जिसने इसका प्रयोग नही किया वह कह सकता है कि यह क्या? आज के वैज्ञानिक युग मे अंधविश्वास की बात कही जा रही है। मैं मानता हू कि मैं एक धार्मिक व्यक्ति हूं, किन्तु वैज्ञानिक युग मे जीता हूं, इसलिए वैज्ञानिक भाषा मे बात करना पसन्द करता हू, अवैज्ञानिक भाषा मे ले जाना मैं पसन्द नही करता। अंधविश्वास जैसा मैं कुछ मानता ही नही। पुराने लोग कहते थे—यह अंधविश्वास है, यह अंधविश्वास है। मैंने अपनी भाषा बदल दी। किसी को भी अंधविश्वास कहना आज दु साहस की बात है। कोई दु साहसी व्यक्ति ही कह सकता है कि यह अंधविश्वास है। जिन सैकड़ो-सैकडो को हम अंधविश्वास मानते थे, आज वे बाते वैज्ञानिक होती चली जा रही हैं। भावना का प्रयोग आज विज्ञान के क्षेत्र मे बहुचर्चित हो रहा है। आज का कोई भी वैज्ञानिक दृष्टि वाला व्यक्ति, जो गुणसूत्रो के बारे मे थोडा-सा भी जानता है, वह इस बात का ज्ञान रखता है कि आज जीन पर जो खोजे हो रही हैं, वे भावना के प्रयोग की ही खोजे है। आज का वैज्ञानिक इस खोज मे लगा है कि जीन को बदलकर पूरे बच्चे को बदल दिया जाए। आज कल्पना तो यह की जा रही है कि आने वाले युग मे यह हो जाएगा कि एक वैज्ञानिक अपनी लेबोरेट्री मे बैठा है। कोई व्यक्ति जाएगा और कहेगा कि हमे ऐसा बच्चा चाहिए तो वह जीन को बदल देगा। यह जीन ले जाओ, वैसा ही बच्चा हो जाएगा। जैसा पसन्द करो, वैसा लडका। बडी अजीब-सी बात लग रही है, किन्तु यह काल्पनिक बात नही है। इस पर आज बहुत काम हो रहा है। इसी विषय मे दिल्ली विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर प्रो० मेहरोत्रा ने कहा था—मुनिजी! आज जीन पर जो काम हो रहा है, उस पर हम भारतीय दर्शन की दृष्टि से क्या कह सकते हैं? हमारा प्रवचन था 'प्रेक्षाध्यान' विषय पर दिल्ली विश्वविद्यालय मे। वहा कुलपति उपस्थित थे। वहा उन्होंने यह चर्चा प्रस्तुत की कि जीन के विषय में आज सारे ससार मे बडी अद्भुत बातें चल रही है। इतनी तेजी के साथ खोजें हो रही है कि अगर हम कोई नयी बात दे सकें तो भारत का बहुत बडा योग होगा, अनुदान होगा। मैंने कहा—यह तो सभव है, क्योंकि आज जीन की खोजों के द्वारा जो हो रहा है, उसकी कर्मशास्त्र मे बहुत विस्तार से चर्चाएं हुई हैं। कर्म-प्रकृतियों को जानने वाला, कर्मशास्त्र का अच्छा अध्येता

व्यक्ति इन सारे रहस्यों को समझ सकता है, जो रहस्य आज जिनेटिक इंजीनियरिंग मे समझे जा रहे हैं।

मुझे कोई आश्चर्य नही लगता कि यदि भावना का वैसा प्रयोग किया जाए तो इच्छित सन्तान प्राप्त की जा सकती है। ज्ञातासूत्र को पढ़ने वाला हर व्यक्ति जानता है कि एक गर्भवती स्त्री के लिए कितने निर्देश दिए गए हैं। ज्ञातासूत्र ग्यारह अगो मे छठा अग है। उसका पहला अध्ययन है—मेघकुमार। उस अध्ययन मे मेघकुमार का प्रसग है। वहा गर्भ का प्रसग है, गर्भिणियो का वर्णन है। इतना वैज्ञानिक वर्णन है कि मा को कैसे उठना, बैठना, चलना, खाना तथा किस प्रकार का विचार करना चाहिए। पूरा सागोपाग वर्णन है। क्योकि उस अवस्था मे माता का जिस प्रकार का विचार, भाव, व्यवहार होता है वैसा ही प्रतिबिम्ब बच्चे पर पडता है। कुछ वैज्ञानिको ने प्रयोग किया कि एक कमरा बिलकुल नीले रग से रग दिया। चारों तरफ नीला ही नीला रग। खरगोश के एक जोडे को वहा छोडा गया। जब बच्चा हुआ तब देखा गया कि खरगोश के बच्चो के जो केश है उनमे नीले रग की छाया है। नीले रग का प्रभाव।

नीग्रो का फोटो सामने था। एक गर्भिणी उसको देखती रहती। बच्चा नीग्रो जैसा पैदा हुआ।

हमारे अन्तर्जगत् मे, सूक्ष्म जगत् मे भावना का इतना प्रबल प्रभाव होता है कि जिस प्रकार की भावनाए निरन्तर चलती रहती है, व्यक्ति का परिणमन उसी प्रकार होता चला जाता है। हम स्थूल जगत् मे बहुत कम बदलते है किन्तु भीतर का जगत् इतना बदलता है और इतनी सूक्ष्मता से बात को पकड़ता है कि हम सामान्यत कल्पना ही नही कर सकते। यह भावना का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग होता है। आपको पता है कि हिमालय मे कितनी भयकर बर्फ पडती है। तिब्बत के योगियो मे एक कसौटी होती थी कि वहा साधक साधना करता और साधना की परीक्षा देनी होती। गुरु परीक्षा लेता तो दो प्रकार का प्रयोग करवाता—बर्फ पर बैठो। बर्फ पर बैठकर पसीना निकाल दे तो कसौटी मे उत्तीर्ण। लामा बर्फ की शिला पर बैठता, ध्यान करता, भावना का प्रयोग करता और सारे शरीर से पसीना चूने लग जाता। कसौटी मे वह उत्तीर्ण हो जाता। कैसे हो सकता है ? ध्यान मे बैठो और पसीना निकल आए ! हो सकता है, बहुत सभव है। बर्फ पर बैठें, भावना करे, आतप की भावना करे, सूर्य की भावना करे, बर्फ पर बैठे हुए भी पसीना चूने लग जाएगा। सारा शरीर गर्म हो जाएगा।

भगवान् महावीर वस्त्र नही रखते थे, बहुत स्पष्ट है। क्या यह सभव है, इतनी भयकर सर्दी को आदमी इस प्रकार सहन कर सके ? आपका तर्क होगा कि वे अनन्तशक्तिशाली थे। किन्तु अनन्तशक्ति का मतलब यह थोड़ा ही है कि सर्दी

न लगे। अनन्तवीर्य का मतलब यह है कि उनका वीर्य कभी विचलित नहीं होता, चाहे कितने ही भयकर उपद्रव और कष्ट आ जाए। उनमे इतना असीम पराक्रम होता है कि उन्हें कोई विचलित नहीं कर सकता। कड़कड़ाती सर्दी मे वे रहते थे। कैसे ? मान लो भगवान् इतने शक्तिशाली थे, पर उनके साथ हजारों मुनि नग्न रहने वाले थे, वे किस प्रकार सहन करते थे ? मात्र भावना का प्रयोग। आज भी कुछ मुनि नग्न रहते हैं। आज की चर्चा करना तो मैं पसन्द नही करता, क्योकि वे वस्त्र तो नही रखते किन्तु सुरक्षा के शायद अनेक उपाय काम मे लेते हैं। पर महावीर तो अकेले घूमते थे। उनके साथ तो कोई नही था, सुरक्षा का कोई उपाय भी नही था। फिर कैसे सम्भव था ? आचाराग सूत्र मे वर्णन मिलता है कि इतनी भयकर, कपा देने वाली बर्फीली हवा, जिसमे लोग बाहर निकलते भी नही थे, घर के भीतर आग तापते थे, उस भयानक सर्दी मे महावीर रात के समय मकान के बाहर जाकर चक्रमण करते, जहा कहीं धूप आती वहा से उठकर छाह मे जाकर बैठ जाते। आखिर यह कैसे सम्भव था ? यहा है भावना का प्रयोग। जब भावना का प्रयोग होता है, सर्दी के बीच, हिमालय के बीच बैठकर भी पसीना निकाल देना कोई बडी बात नही है।

दूसरी कसौटी होती थी—भयकर गर्मी मे शरीर को उसी तरह कपा देना जैसे भयकर सर्दी मे कापता है। गर्मी के मौसम मे सर्दी की भावना का जप किया जाता है, तो वैसा ही परिणमन हो जाता है। यह बिलकुल ठीक बात है कि हम भावना के द्वारा चाद जैसी निर्मलता, सूर्य जैसी प्रकाशशीलता और सागर जैसी गम्भीरता को उपलब्ध हो सकते है, यदि सिद्धो के प्रति हमारा समर्पण हो, श्रद्धा हो और हमारी भावना का प्रयोग हो।

समर्पण का अर्थ होता है—अपने अहकार का विसर्जन, अपने ममकार का विसर्जन। जब तक व्यक्ति मे अहंकार और ममकार होता है, तब तक समर्पण नही हो सकता और यह साधना का क्षेत्र ही ऐसा है जिसमे केवल समर्पण की ही बात है। साधना के क्षेत्र मे कोई व्यक्ति प्रविष्ट हो और समर्पण न करे तो वह कभी सफल नही हो सकता। एक सैनिक जितना अपने अधिकारी के प्रति समर्पित होता है, अपनी व्यवस्था के प्रति समर्पित होता है, साधक को उससे भी ज्यादा समर्पित होना होता है।

जापान मे एक धर्म चलता है—झेन बौद्ध। बौद्धों का एक सम्प्रदाय है—झेन बौद्ध। एक शिष्य गया अपने गुरु के पास और बोला—गुरुदेव, मैं कौन हू, यह जानना चाहता हू। गुरु ने डडा उठाया और लगा दिया। वहा से दौडा हुआ गया वह मुख्य गुरु के पास शिकायत करने के लिए। बोला—गुरुदेव, मैं तो केवल यह जानने के लिए गया था अपने गुरु के पास कि मैं कौन हू और उन्होंने मुझे डडे से मारा। गुरु ने कहा—उसने तो डडा ही मारा। चला जा, मुझसे यह मत पूछ,

अन्यथा मैं डंडा, लात और चांटे भी मारूंगा, क्योंकि जो प्रश्न अपने आप से पूछना है, वह तू मेरे से पूछने आया है। अभी तुझमे समर्पण नही आया। सत्य के प्रति अभी तू समर्पित नहीं हुआ है। जब तक समर्पण नही आएगा, तेरा अहकार और ममकार नही छूटेगा, तब तक इस प्रश्न का उत्तर तुझे नही मिलेगा।

साधना का मार्ग पूर्ण समर्पण का मार्ग है। हमारे धर्मसंघ मे विनय और समर्पण की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएं उपलब्ध हैं। हमारा इतिहास समर्पण का इतिहास है। परिणाम भी स्पष्ट है कि आज तेरापंथ धर्मसघ को जो सुषमा मिली है, जो विकास हुआ है, शायद अन्यत्र कम हुआ है। इसका कारण साफ है कि जब गुरु और शिष्य के बीच मे तर्क का व्यवहार होता है, केवल बुद्धि का व्यायाम चलता है तो वह सघ कभी गतिशील नही बन सकता। साधना का मार्ग है— अपने अहकार का विलयीकरण। मैं तो स्वय अनुभव करता हू कि मैंने जीवन के दोनो पक्षों का अनुभव किया है। तर्क के क्षेत्र का पूरा अनुभव किया है। तर्कशास्त्र का विद्यार्थी रहा। इसका पूरा प्रयोग किया और बडी मल्लकुश्तियां भी लड़ी। बडी चर्चाएं हुई है विद्वानो के बीच मे। किन्तु जहा गुरु का प्रश्न था, वहा पूरा समर्पण का अनुभव किया। यह मेरे जैसा भोला व्यक्ति ही कर सकता था, समझदार व्यक्ति तो ऐसा कर ही नही सकता। मुझे याद है कि पूज्य कालूगणी पाली मे विराज रहे थे, और मैं था अध्यापक गुरु तुलमी के पास। किसी कारण-वश उनके मन मे कोई नाराजगी हो गई, वे अप्रसन्न हो गए। मुझे नही मान्य था कि वे अप्रसन्न रहे। प्रतिक्रमण के बाद मै गया। वदना कर बैठा। पैर पर हाथ रख दिया, पैर पकड लिया। कुछ कहने की हिम्मत नही रही, बैठा रहा और तब तक बैठा रहा जब तक एक प्रहर रात चली गई। न वे बोले, न मैं बोला। वे अपने सोने के स्थान पर चले गए, मैं अपने सोने के स्थान पर चला गया। क्या ऐसा भोलापन कोई समझदार व्यक्ति कर सकता है? किन्तु मैं जानता हू कि जहा गुरु है वहा तो यह भोलापन ही काम आ सकता है। यदि गुरु और शिष्य मे रोज तर्क की लडाइया लडी जाए, परस्पर मे टकराव चलता रहे तो गुरु गुरु नही, शिष्य शिष्य नही, दोनो निकम्मे है। गुरु गुरु नही बना, शिष्य शिष्य नही बना।

गुरु आचार्य भिक्षु को मानता हू कि जिनमे इतना अनुशासन था कि कोई भी शिष्य तर्क नही कर सकता था। ज्ञान के क्षेत्र मे बहुत अवकाश था, वहां तर्क की पूरी छूट थी किन्तु जहा व्यवहार का प्रश्न था वहा तर्क की कोई गुजाइश नही। जो कह दिया, वह मान लिया। वहा मानने की बात मुख्य बन जाती है। और इसका बहुत बडा महत्त्व है। हमने अभी साधना की दृष्टि से इसका मूल्याकन नही किया। हमने श्रद्धा का प्रयोग ज्ञान के क्षेत्र मे किया जो कि नही होना चाहिए। श्रद्धा का प्रयोग मात्र हमारे साधना के क्षेत्र मे होना चाहिए। ज्ञान का क्षेत्र श्रद्धा का क्षेत्र नही है। वहा तो बहुत तर्क किया जा सकता है। सारे कठोर तर्क प्रस्तुत

किए जा सकते हैं। किन्तु श्रद्धा का क्षेत्र है—साधना का क्षेत्र। हमारा मन जितना निर्विकल्प होगा, वह काम हो जाएगा, बिलकुल हो जाएगा। एक भी विकल्प उठा तो आप मान लीजिए कि सफलता भंग हो गई। कुछ भी नही। थोड़ी-सी रेत उठाई—पानी मे डालकर पी ली—भयंकर बीमारी मिट गई। क्या वह रेत का कोई चमत्कार है। इस भ्रम मे न जाए कि यह किस व्यक्ति के पैर की रज है। यह श्रद्धा का चमत्कार है। मन मे इतना दृढ़ विश्वास हो गया तो जो होने वाला है, वह निश्चित ही वैसा हो जाएगा। उसमे कोई अन्तर आने वाला नहीं है। कोई ताकत ऐसी नही जो उसको बदल दे। किन्तु श्रद्धा निश्छिद्र होनी चाहिए, प्रगाढ होनी चाहिए। हमारा समर्पण वैसा होना चाहिए। हमारे अहंकार और ममकार का पूर्ण विलय होना चाहिए।

आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई किसी का शिष्य नही होगा, शिष्या नही होगी। सारे शिष्य आचार्य के होगे। जयाचार्य ने व्यवस्था की कि पुस्तक पन्ने अपने नहीं होंगे। यह क्यों ? ममकार को मिटाने के लिए। जब तक ममकार नही मिटेगा, समर्पण पूरा होगा नही, काम पूरा बनेगा नही। जब तक अहकार नहीं मिटेगा, समर्पण होगा नही।

एक बहुत पहुचे हुए सत थे। इतनी साधना की कि उनका यश चारो ओर फैला। यहा तक कि उनकी कीर्ति देवताओ तक भी पहुची। एक देवता आकर बोला—महाराज ! आपकी कीर्ति-सुगन्ध चारो ओर फैल रही है। आप महान तपस्वी और साधक है। मुझ पर कृपा करें। मैं आपको कुछ वरदान देना चाहता हू। साधक बोला—मुझे कुछ नही चाहिए, मैं अपने मे सन्तुष्ट हू। देव बोला—नही, मुझ पर आपको कृपा करनी ही होगी। मैं कुछ देना चाहता हू, आप उसे स्वीकार करे। साधक नकारता रहा और देव स्वीकार करने की प्रार्थना करता रहा। देव ने हठ पकड लिया। अन्त मे साधक ने कहा—अच्छा, तुम कुछ देना ही चाहते हो तो बताओ क्या दोगे ? देव ने कहा—मैं आपको ऐसा वरदान दूगा कि आप यदि मूर्च्छित या मृत व्यक्ति की ओर आख उठाकर देख लेंगे तो वह जीवित हो उठेगा। साधक ने कहा—इसके साथ-साथ मेरी गर्दन को इस प्रकार कर देना कि वह पीछे मुडकर देख न सके। यह सुनकर देव आश्चर्यचकित रह गया। उसने पूछा—ऐसा क्यो ? साधक बोला—देखो, तुम्हारे इस वरदान से मेरी जयजयकार होगी। लोग मेरी पूजा करेंगे। यह सब अहकार को बढाने का उपाय बनेगा। मैं उससे छूट चुका हू। फिर कही उसमे न फस जाऊ।

सचमुच हमारा अहकार इतना विलीन हो जाए कि क्या हो रहा है यह देखने के लिए गर्दन मुडे नही। केवल वर्तमान को, सामने को देखते रहे। यदि ऐसी स्थिति जागती है, अहकार और ममकार का इतना विलय होता है तो भावना का प्रयोग सफल होता है। भावना के क्षेत्र मे बहुत बड़ा मंगल होता है—समर्पण,

बहुत बडा मंगल होता है—श्रद्धा। जिस व्यक्ति ने श्रद्धा का मूल्यांकन किया, समर्पण का मूल्याकन किया, अहंकार और ममकार का विलय किया, उसके लिए सारा ससार मगलमय बन गया। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की जाती है, वे तो हमारे ही जैसे पुरुष थे। उन्होने साधना के द्वारा अहंकार और ममकार का विलय कर सत्य के प्रति, धर्म के प्रति, अपना पूर्ण समर्पण कर इस प्रकार के मंगलमय पुरुष बन गए कि उनके प्रति समर्पण करने वाला व्यक्ति भी स्वय मगलमय बन जाता है, चारो दिशाए उसके लिए मगलमय बन जाती हैं। हम सचमुच साधना का मूल्याकन करे और वैसे बने। भावना का प्रयोग मात्र जानने और लिखने का प्रयोग नही है। मैं इस बात मे विश्वास नही करता जो केवल लिखी गई हो, उस पर साधना न की गई हो।

हम केवल लिखे, बोलें और अपने जीवन मे कोई अभ्यास या प्रयोग न करे तो यह वही बात होगी कि दूसरो को समृद्धि का पाठ पढाना और स्वय फटेहाल जीवन बिताना। हम स्वय साधना का प्रयोग करे, मगल का प्रयोग करें, स्वय उनकी सूत्र-पद्धति मे जाए तो सचमुच हमारे लिए सारी दिशाए मगलमय बन जाएगी। यह मगलसूत्र की साधना का बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

"आरुग्ग-बोहिलाभ समाहिवरमुत्तम दितु"—इसमे भावना की गई है कि सिद्ध! आपके द्वारा मुझे आरोग्य मिले, बोधि मिले, समाधि मिले। जीवन की हमारी तीन भावनाए होती है। पहली है—आरोग्य—शरीर का आरोग्य, मन का आरोग्य और भावना का आरोग्य।

दूसरी है—बोधि मिले, चेतना मिले।

तीसरी है—आधि-उपाधि के चक्रव्यूह मे निकलकर हम समाधि की अवस्था मे जा सके तो उससे बडा दुनिया मे कोई मगल नही हो सकता। हम भावना करें और सूक्ष्म मन की सारी शक्ति को जुटाकर भावना करें। आधि, व्याधि और उपाधि—शरीर की बीमारी, मन की बीमारी और कषाय की बीमारी—इन तीनो से मुक्त होकर हम समाधि के क्षेत्र मे प्रवेश करे। धर्म हमारे लिए इसीलिए मगल है कि इसके द्वारा व्याधि, आधि और उपाधि का छुटकारा होता है और समाधि के द्वार मे हमारा प्रवेश होता है।

जिन शासन : १

श्रमण सूत्र का पहला प्रकरण है—'मगल' और दूसरा प्रकरण है—'जिन शासन'। शासन हर व्यक्ति के लिए जरूरी होता है। कोई भी व्यक्ति अकेला जीवन नहीं जी सकता। वह सामूहिक जीवन जीता है, समाज का जीवन जीता है और जो समाज का जीवन जीता है उसके लिए अनुशासन जरूरी है। अनुशासन की अपनी समस्या है। इतना प्रयत्न आज राजनैतिक स्तर पर और सामाजिक स्तर पर चल रहा है अनुशासन की प्रतिस्थापना के लिए, पर अनुशासन नही आ रहा है। सारे लोग चिल्ला-चिल्लाकर रह जाते है, पर अनुशासन नही आ रहा है। इस प्रश्न का यदि हल सोचा जाए कि इतना प्रयत्न करने के बाद भी अनुशासन क्यों नही आ रहा है? खराबी कहा है? क्या कारण है कि अनुशासन नही आ रहा है? तो मुझे लगता है, समस्या यह है, कि बेटा जन्मा ही नही, पर चिन्ता हो रही है कि वह गोरा है या काला? तर्कशास्त्र का वाक्य है—'नहि वन्ध्यापुत्र गौरो वा कालो वा विचार्यते।' दो-तीन आदमी बैठे थे। बातचीत होने लगी कि बाझ का बेटा गोरा है या काला? एक समझदार और अनुभवी आदमी उधर से गुजरा। उनकी बाते सुनी और बोला—यह क्या पागलपन की बात कर रहे हो? बाझ के बेटा होता ही नही तो उसके गोरे या काले होने की तकरार क्यो कर रहे हो?

जो बात बाद मे सोचने की होती है, वह पहले कैसे सोच ली जाए? किन्तु दुनिया मे कभी-कभी ऐसा चलता है। हमारी कल्पना की दुनिया मे, हमारी विकल्पो की दुनिया मे ऐसा होता है कि पहले सोचने वाली बात नही सोची जाती और बाद मे सोचने वाली बात सोच ली जाती है। सोची ही नही जाती, बल्कि उसके लिए लडाइया भी लड ली जाती हैं।

पति-पत्नी मे झगडा हो गया। झगडा इतना तेज हो गया कि आसपास के पडोसी भी वहां इकट्ठे हो गए। यह सच है कि विवाह के कुछ वर्ष बीत जाते है तो झगडा फिर तेज ही होता है। पडोसियो ने पूछा—भाई, झगडा क्यो कर रहे

हो परस्पर ? पत्नी ने कहा—झगड़ा क्या, झगड़ा तो होना ही है। कितने वर्ष हो गए इस घर मे आए, पर ये मेरी एक बात भी नही मानते। हर बात मे मनमानी करते है, आखिर मेरी भी कुछ इच्छाएं है। पर ये है कि मेरी कोई भी बात नही सुनते। पडोसी बोला—बात क्या है ? उसने कहा—बात बस यही है कि मैं चाहती हू मेरा लडका डॉक्टर बने। उसे डॉक्टर बनना ही चाहिए, पर ये मानते ही नही।

पति ने कहा—इसकी बात आप लोगो ने सुनी, अब मेरी भी तो सुनो। आज करो का भार इतना बढ गया है कि हम व्यापारी लोग दिन-रात वकीलो के पीछे चक्कर लगाते फिरते हैं। मेरा बेटा वकील बन जाएगा तो इस मुसीबत से छुटकारा मिल जाएगा। आप लोग ही बताए, मैं क्या गलत सोच रहा हू ?

पत्नी फिर बोली—मै भी तो बीमार रहती हू। आए दिन किसी न किसी डॉक्टर को बुलाना पडता है, अस्पतालो के चक्कर लगाते-लगाते मैं भी थक गई हू। आप लोग ही बताए मेरा चिन्तन क्या गलत है ? बस हम दोनो का यही झगड़ा है।

पडोसी समझदार थे। उन्होने कहा—ठीक है, एक की राय है कि बेटा डॉक्टर बने और दूसरे की राय है कि वह वकील बने। पर कम से कम उस लडके की राय भी तो जान लेनी चाहिए कि वह क्या बनना चाहता है। लडके को बुलाइये।

पति-पत्नी दोनो बोल उठे—लडका तो अभी पैदा ही नही हुआ।

हमारी दुनिया मे न जाने कल्पना के आधार पर कितना कुछ चलता है। लडका पैदा होने के बाद जो बात सोचनी चाहिए वह पैदा होने के पहले ही सोच ली जाती है, यही तो सबसे बडी भूल है। जिस समय जो बात सोचने की होती है वह उसी समय सोची जाए तब तो उसका कोई परिणाम आता है। किन्तु पहले सोचने वाली बात को बाद मे और बाद मे सोचने वाली बात को पहले सोच लिया जाए तो उसका कोई परिणाम नही आता। हम अनुशासन की बात बहुत सोचते है। अनुशासन आए, पर सभव नही। जब शासन ही नही तो अनुशासन कहा से आएगा। इस शब्द को जानने वाला व्यक्ति जानता है कि शासन के पीछे 'अनु' लगता है तब अनुशासन बनता है। 'अनु' का अर्थ होता है बाद मे अर्थात् बाद मे होने वाला शासन। शासन के बाद मे होता है अनुशासन। पहले पुत्र होने की चिन्ता नही करते, पहले काले और गोरे की चिन्ता करने लग जाते है। हम पहले अनुशासन लाना चाहते है जब कि पहले शासन लाना जरूरी है। सबसे पहले चिन्ता करे शासन की। जब शासन होगा तो अनुशासन अपने आप जीवन मे उतर जाएगा। शासन बाहर से नही आता, अनुशासन बाहर से आ सकता है। शासन बाहर से नही आता, इसी बात की सूचना है—'जिन शासन'। 'जिन'

कोई दूसरा नहीं होता, जिन अपनी आत्मा होती है। वह आत्मा जिसकी चेतना का विकास हो गया हो, जिन होता है। वह आत्मा जिसकी चेतना विकसित होने के अनन्तर राग-द्वेष समाप्त हो गए, वह जिन होता है। आज जैन परम्परा मे 'जिन' शब्द प्रचलित है। हो सकता है कि प्राचीन काल मे 'चिन' शब्द था, जो आज 'जिन' बन गया। प्राकृत में 'चिन' का 'जिन' बन जाता है। बहुत बड़ा भ्रम हुआ है। 'आज्ञाविचय' का कर दिया गया आज्ञाविजय। 'लोकविजय' का होना चाहिए 'लोकविचय'। प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'च' का 'ज' हो जाता है। 'चितम्' का 'जितम्'। परिचितम् का परिजितम्। विचय का विजय। पकडा नही गया, 'चिन' का जिन हो गया। तब दो अर्थ बन गए। इसका एक अर्थ होना चाहिए चिन का। चिन का अर्थ है—जानना। दूसरा अर्थ—यदि 'जिन' माने तो उसका अर्थ होता है—जीतने वाला। दोनों अर्थ घटित होते हैं। चिन का अर्थ है—'आत्मज्ञानी'। जिसे आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो गया, जिसे कैवल्य उपलब्ध हो गया, वह जिन (चिन) होता है अथवा जिसके राग-द्वेष क्षीण हो गए, वह जिन होता है। जिन-शासन का अर्थ है—आत्मा का शासन। जिस व्यक्ति का अपनी आत्मा पर शासन हो गया, अनुशासन अपने आप उसमे आ जाएगा। अनुशासन की कठिनाई है कि हम शासन की ओर ध्यान नही देते। जैन परम्परा मे साधना को नया आयाम दिया। कुछ लोगों की धारणा थी कि साधना अकेले मे ही हो सकती है। जैन तीर्थंकरो ने कहा—साधना सघबद्ध हो सकती है। इतिहास की दृष्टि से श्रमण परम्परा ने सबसे पहले सघबद्ध साधना का प्रयोग प्रारम्भ किया। इसलिए सघ का बडा महत्त्व है। जैन धर्म मे सघ का जितना महत्त्व है, उतना महत्त्व अन्यत्र शायद परिस्थापित भी नही। सघ का महत्त्व बढते-बढते यहा तक बढ़ गया, वह इतना प्रधान हो गया कि आचार्य भी सघ की अवज्ञा नही कर सकते। भद्रबाहु स्वामी ने जब यह निर्णय लिया कि मुझे महाप्राण ध्यान की साधना करनी है, अब किसी को वाचना नही दूगा, पढाऊगा नही। ऐसा होता है, जब व्यक्ति साधना मे जाता है तो सहज ही निरपेक्षता जागती है। इतने बडे आचार्य, चतुर्दशपूर्वी, एकमात्र सघ के नेता। उस समय कोई सम्प्रदाय नही था दूसरा। न कोई श्वेताम्बर था, न कोई दिगम्बर था। सघ मे कोई विभाजन नही हुआ था। एकमात्र समूचे सघ के, जैन धर्म के अप्रतिम नेता और उन्होने निर्णय ले लिया कि अब मैं किसी को पढाऊगा नहीं। बडी समस्या हो गई। श्रुत केवली, चतुर्दशपूर्वी और वे नही पढाएगे तो इसका अर्थ है कि ज्ञान की परम्परा लुप्त हो जाएगी, विच्छिन्न हो जाएगी। सघ मिला, हजारों साधु इकट्ठे हुए, साध्विया मिली, श्रावक-श्राविकाए मिले और निर्णय हुआ कि आचार्य भद्रबाहु से प्रार्थना की जाए। साधुओं को भेजा, उन्होने आचार्य के सामने प्रार्थना रखी। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—मैं महाप्राण ध्यान की साधना कर रहा हू। मैं अब ऐसा नही कर सकता।

दूसरी बार फिर अनुरोध किया गया और सघ की भावना से अवगत कराते हुए उनसे कहा गया कि समूचा सघ यह निर्णय लेता है कि आपको पढाना चाहिए। आप सघ की प्रार्थना को स्वीकार करें तो हमारा सौभाग्य है और संघ की भावना को ठुकराते है तो इस बात पर विचार करे कि उसका क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए ? जब यह अन्तिम बात उनके सामने रखी गई तो आचार्य भद्रबाहु ने कहा—यदि स्थिति यहा तक पहुचती है, सघ का एक अनुरोध है, प्रबलतम अनुरोध है तो मै उसे नही ठुकराऊगा। मैं सघ के अनुरोध को स्वीकार करता हू। कुछ समय निकालकर, अपने ध्यान की साधना चालू रखते हुए भी शिष्यो को पढाऊगा।

सघ की इतनी महत्ता जैन शासन मे प्रस्थापित हुई। यह बहुत आवश्यक है। शासन बहुत उपयोगी होता है। यदि शासन न हो तो परम्परा कभी चल नही सकती। दीप से दीप जल सकता है। सारे व्यक्तित्व सघ मे से निकलते है। यदि सघ न हो तो यह स्थिति नही बनती। साधना करने वाले सब लोगो मे बहुत शक्ति नही होती। बहुत से लोग कमजोर भी होते है। आज बहुत वैज्ञानिक खोजो के बाद इस सचाई को स्वीकार किया गया कि एक व्यक्ति अकेला ध्यान करता है और एक व्यक्ति समूह मे ध्यान करता है, तो समूह का ध्यान ज्यादा उपयोगी होगा। इसलिए अकेले व्यक्ति के ध्यान की अपेक्षा ग्रुप मेडिटेशन की बात ज्यादा चलती है। आज सारे ससार मे ग्रुप मे हर प्रकार के प्रयोग चलते है। समूह मे ध्यान किया जाए। एक व्यक्ति का 'ओरा', उसका आभामडल दुर्बल है। एक व्यक्ति मे लेश्या क्षीण है, कमजोर है किन्तु एक शक्तिशाली व्यक्ति बैठता है और उसके आस-पास यदि पचासो-सैकडो व्यक्ति बैठते है तो सब को प्राण मिलता है, प्राण-शक्ति मिलती है और सब मे नयी स्फुरणा, नयी चेतना जागती है। पहले व्याख्या इतनी स्पष्ट नही थी, किन्तु आज तो व्याख्या बहुत स्पष्ट हो गई है।

हमारा अस्तित्व क्या है ? जैन दर्शन की दृष्टि से विचार करे तो प्रत्येक तत्त्व मे, फिर चाहे वह आत्मा हो या पुद्गल, तीन बाते होती है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। एक तत्त्व है—ध्रौव्य, जो शाश्वत है। दूसरा तत्त्व है—अशाश्वत अर्थात् परिवर्तनशील। उत्पन्न होता है, नष्ट होता है। दूसरी भाषा मे कहें तो एक अप्रकम्प तत्त्व है, दूसरा प्रकम्प तत्त्व है। एक शाश्वत और अप्रकम्प है, कभी प्रकम्पित नही होता। किन्तु साथ मे वह प्रकम्पनो से घिरा रहता है। चारो ओर प्रकम्पन ही प्रकम्पन, तरगे ही तरगे, ऊर्मिया ही ऊर्मिया उछलती रहती हैं। हमारा पूरा व्यक्तित्व ऊर्मियो का एक जाल है। प्रकम्पन, प्रकम्पन से प्रभावित होता है। एक शक्तिशाली व्यक्ति होता है, एक प्राणवान् व्यक्ति होता है, उसकी प्राणधारा के वर्चस्वी प्रकम्पन निकलते है तो आस-पास मे बैठे सारे लोग प्रभावित हो जाते है, प्रकम्पित हो जाते है। इसीलिए समूह ध्यान का बडा महत्त्व होता है और इसीलिए शासन का भी बहुत महत्त्व होता है। एक शासन है। शासन मे एक

नेता या एक साधक, एक मुनि या साध्वी शक्तिशाली है तो समूचा शासन उससे प्रभावित हो जाता है। हमारी तपस्या, हमारी ज्ञान की आराधना और हमारी चरित्र की आराधना, हमारी दर्शन की आराधना जितनी शक्तिशाली होती है, अनुशास्ता की जितनी शक्तिशाली होती है, सब उससे प्रभावित हो जाते है। आश्चर्य तो यह होता है कि एक शक्तिशाली व्यक्ति हो गया, चला गया, उसकी वाणी बची हुई है, उस वाणी मे भी इतनी ताकत होती है कि उससे लोग प्रभावित हो जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने कुछ कहा, चले गए। आज दो शताब्दिया बीत गई, किन्तु उनकी वाणी में आज भी चमत्कार है। एक बार मैंने लिखा था—नमस्कार हे सन्त! तुम्हारे शब्दो मे कोई चमत्कार है। उनके शब्दो मे आज भी चमत्कार है। जहां कही भी कठिनाई मालूम पडती है और उस शब्द का प्रयोग होता है, ऐसा लगता है कि कठिनाई समाप्त हो रही है। चले जाने वाले व्यक्ति के प्रकम्पन भी शेष रह जाते है, हजारो वर्षों तक रह जाते है। इसीलिए स्थान का महत्त्व होता है, तपोभूमि का महत्त्व होता है, तपस्वी का महत्त्व होता है। जिस स्थान मे वह जिया, जिस स्थान मे उसने तपस्या की, साधना की, उस स्थान से चले जाने के बाद भी उसके प्रभाव और उसके प्रकम्पन उस स्थान मे, उस वातावरण मे बच जाते है और वे हजारो-हजारो लोगों को लम्बे समय तक प्रभावित करते रहते है।

जिन शासन हमारे सामने एक अद्भुत शासन है। शासन के दो रूप बनते है—एक है—क्रूरता का शासन और दूसरा है—चेतना का शासन। बहुत से लोग अनुशासन को लाने के लिए क्रूर शासन मे विश्वास करते है और बहुत लोग इस बात मे विश्वास करते है कि शासन आत्मा की सहज, स्वाभाविक प्रेरणा से उद्भूत होता है। क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव—ये चार बाते होती है तो शासन का विकास होता है। क्षान्ति का अर्थ है—सहिष्णुता। क्षान्ति का अर्थ केवल क्षमा कर देना नही कि गुस्सा आया, एक कोई अपशब्द कह दिया और क्षमा माग ली। इतना छोटा नही है क्षमा का प्रयोग। क्षान्ति का अर्थ है—सहिष्णुता का विकास। जो भी कठिनाई आए, समस्या आए, हमारा ध्येय विचलित न हो। छोटी या बडी उलझन आ जाए, उसे हम झेले, सहन करें, उसे पार करे, उसमे डूब न जाए। इतनी शक्ति का विकास हो जाए तो उसी का नाम है—क्षान्ति। यही है सहिष्णुता का विकास, जिसकी आज के समाज मे सबसे ज्यादा कमी है। आज तो ऐसा लगता है कि सहिष्णुता कोई जानता ही नही। किसी की भी परीक्षा करनी हो तो दो शब्द कहकर देख लो, पता लग जाएगा। आज के समाज मे सहिष्णुता का तत्त्व विलुप्त होता जा रहा है। हो गया कहे तो भी कोई कठिनाई नही होगी। मुक्ति का अर्थ है—निर्लोभता, अनासक्त भाव। ऋजुता का अर्थ है—सरलता। ऋजुता का अर्थ है—मन, वाणी और शरीर की

सरलता, वक्रता का सर्वथा वर्जन। मृदुता का अर्थ है—मार्दव, कोमलता। ये चार तत्त्व जिसमे विकसित होते है, वह जिन शासन होता है, आत्मा का शासन होता है। इसके विपरीत असहिष्णुता, लोभ, कुटिलता और कठोरता—ये चार तत्त्व जिसमें होते हैं, वह क्रूरता का शासन होता है। वह जिन शासन नही, अजिन-शासन होता है। इन दोनो मे अन्तर है। लोगो मे धारणा हो गई कि भय के बिना शासन नही चलता। बात ठीक है, सब लोग समान नही होते और भय के बिना शासन नही चलता। किन्तु इस बात को भी साथ मे स्वीकार करना चाहिए कि भय के साथ जो शासन चलता है, वह लड़खड़ाता हुआ चलता है। वह शासन प्रकाश मे तो ठीक चलता है, किन्तु अधकार मे बिलकुल उल्टा चलता है। सामने बिलकुल ठीक चलेगा, पर अंधकार मे नही। अधकार का मतलब रात नही, अधकार का मतलब है—जब कोई नही देख रहा हो। छिपे मे बिलकुल उल्टा चलेगा। जैसे ही भय आता है, सब भूगृह मे चले जाते हैं। चीनी भूमिगत हो जाती है, अनाज भूमिगत हो जाता है, आदमी भूमिगत हो जाते है और मजे से शासन चलता है। मिथ्या धारणाओ के कारण हमने ऐसा मान लिया। कुछ लोग यह मान बैठे है कि जितनी क्रूरता की जाएगी शासन उतना ही ठीक चलेगा।

कन्फ्यूशियस अपने शिष्यो के साथ ताई पहाड़ से गुजर रहे थे। देखा, एक स्त्री रो रही है। कन्फ्यूशियस उसके पास गए। पूछा—बहन ! रो क्यो रही हो ? उसने कहा—क्या करू, यह बहुत बडा भयानक जगल है। इस जगल मे चीते बहुत रहते है। एक आदमखोर चीते ने मेरे लडके को खा लिया। कहते-कहते वह और जोरो से रो पडी। कन्फ्यूशियस ने ढाढस बधाते हुए उसे सान्त्वना दी। वे बोले—तुम ज्यादा क्यो रो रही हो ? उसने कहा—इसी चीते ने पहले मेरे पति को खाया। उससे भी पहले इसी चीते ने मेरे श्वसुर को खाया था। कन्फ्यूशियस ने कहा—जब चीते ने तुम्हारे श्वसुर को, पति को और अब पुत्र को खा डाला तो फिर तुम इस घोर जगल मे क्यो रहती हो ? नगर मे क्यों नही चली जाती ? उसने कहा—मैं नगर मे नही जाना चाहती, वहा एक क्रूर अत्याचारी का शासन है। यहा चाहे चीता खा जाए, पर शासन तो अत्याचारी का नही है। रहूगी तो यही, मैं वहा नही जाऊगी।

हर व्यक्ति घबराता है अत्याचारी शासन से। फिर अत्याचारी का शासन बनता क्यो है ? वह बनता है मिथ्या धारणाओ के कारण। हमने यह मान लिया कि क्रूरता के बिना शासन नही चल सकता, डडे के बिना शासन नही चलता, भय के बिना शासन नही चलता। भय के बिना प्रीति नही होती। ऐसी मिथ्या मान्यताए हमने बना ली और उनका प्रयोग कर रहे है। करने वालो को शायद अनुभव नही होता, पर जिन पर बीतती है उनको मालूम होता है कि यह शासन कैसा है। आदमी सचमुच अनुशासन नहीं

चाहता और क्रूर अनुशासन तो चाहता ही नहीं। कभी नही चाहता। हम चाहते हैं कि अनुशासन आए। मुझे तो नही पता कि अनुशासन की इतनी रट क्यों लगाई जा रही है? क्यों जरूरी है—अनुशासन? इसीलिए कि एक आदमी बडा बना रहे, दूसरा छोटा बना रहे। दूसरा छोटा न हो तो कोई बडा नही बन सकता और एक आदमी को बडा बनने के लिए दूसरे को छोटा बनाना जरूरी है और छोटा बनाए रखने के लिए अनुशासन रखना जरूरी है। यह तो वही बात हुई, जमीदारी रहनी है तो गुलामी की प्रथा भी जरूरी है और गुलाम किसी को रखना है तो फिर कानून भी जरूरी है। बिना कानून के कोई गुलाम नही रह सकता, बिना कानून के कोई दास नही रह सकता। समाज का जीवन ऐसा जीवन होता है कि पहले एक मिथ्या दृष्टि का निर्माण करो, मिथ्या मान्यता बनाओ और फिर उसके आधार पर जीवन चलाओ। उसमे जब कठिनाई आए तो डडे का प्रयोग करो। उस कठिनाई को हल करने के लिए उसके सिवा कोई और उपाय नही हो सकता। यदि हमारे समाज मे ये मिथ्या मान्यताए नही होती, गलत धारणाए हम नही बनाते तो हमे डंडे के प्रयोग की आवश्यकता ही न होती। इसीलिए हमने ऐसा मान लिया कि कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं, शेष सारी जनता उस शासन को मानने के लिए पैदा होती है। आज स्थिति यह हो गई है कि शासन किसी को मिल नही रहा है। शासन वह होता है, जिसके द्वारा समस्याओ का समाधान हो। यही अर्थ है शासन का। कोई व्यक्ति अपनी स्वतत्रता को सीमित करता है तो उसका अर्थ है, उसको प्रतिफल मिले, समस्याए कम हो। जिसमे समस्या को कम करने की क्षमता हो, वह शासन हो सकता है।

प्रश्न होगा कि क्या जिन शासन मे हमारे मानवीय जीवन की समस्याओ को कम करने की अर्हता है, योग्यता है, क्षमता है? आचार्य ने उत्तर मे कहा—हा, वह मानवीय समस्याओ को सुलझाने मे सक्षम है। जो लोग जिन शासन की शरण मे आते हैं, वे ससार-सागर को तर जाते है। बहुत महत्त्वपूर्ण बात है ससार सागर को तर जाना। आज की भाषा मे कहू तो यही है समस्याओ का पार पा जाना। समस्याओ का आर होता है तो पार भी होता है। समस्या क्या है? समस्या एक नही, हजारो है। उन समस्याओ मे एक बडी समस्या है—बीमारी। बीमारी तीन प्रकार की होती है—शरीर की बीमारी, मन की बीमारी और आत्मा की बीमारी। आध्यात्मिक रोग, मानसिक रोग और शारीरिक रोग। यह जिनवचन इन तीनो बीमारियो के लिए एक औषधि है, दवा है, बशर्ते कि कोई लेना जाने। जिनवाणी के आधार पर शरीर के रोगों की चिकित्सा की जा सकती है, मन के रोगों की चिकित्सा की जा सकती है और भावना के रोगो की चिकित्सा की जा सकती है। कषाय भावना का रोग है। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय—ये

सब भावना के रोग हैं, मानसिक उलझनें है। सुश्रुत ने व्याधियो का जो वर्गीकरण किया है, उसमे एक है—मानसिक बीमारी। मानसिक बीमारी का वही लक्षण दिया है, जो आर्त्तध्यान का लक्षण है। इष्ट का वियोग न हो जाए और अनिष्ट का योग न हो जाए—इस प्रकार की चिन्ता जिनके मन मे जाग जाती है, वह मानसिक रूप से बीमार हो जाता है। जो व्यक्ति निरन्तर यह सोचता रहे कि यह वस्तु मिली है, कही चली न जाए। धन मिला है, कही चला न जाए। इतना बडा परिवार मिला, कही समाप्त न हो जाए। इतना पदार्थ मिला है, कही चला न जाए और कही पडोसी खराब न आ जाए। कही चोर न आ जाए। कोई लुटेरा रास्ते मे न मिल जाए। कोई ऐसा अधिकारी न आ जाए जो हमारे दो नम्बर के खाते को पकड ले। प्रिय का वियोग न हो, अप्रिय का योग न हो, यह निरन्तर चिन्ता रहती है तो मानसिक बीमारी बन जाती है। इसे धर्म की भाषा मे कहा जाता है—अन्तर्ध्यान और सुश्रुत की भाषा मे, आयुर्वेद की भाषा मे कहा जाता है—मानसिक रोग। आज सारा समाज इस मानसिक रोग से पीडित है। लोग आश्चर्य करते है कि आज हार्ट ट्रबल या हार्ट अटैक इतना ज्यादा क्यो बढ रहा है ? हृदय रोग की बातें पहले तो इतनी नही सुनी जाती थी। आज तो छोटे-छोटे लोगो को भी हार्ट अटैक होने लगा है। हार्ट अटैक क्यो नही होगा ? जब मन के रोगो को समाज इतना पालता जा रहा है तो बेचारा हार्ट भी कब तक साथ देगा। हार्ट को चाहिए पूरा विश्राम। थोडा विश्राम तो वह अपने आप करता है। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था बनाई है कि एक बार वह धडकता है तो दूसरे क्षण मे वह थोडा विश्राम कर लेता है। फिर धडकना है तो फिर विश्राम कर लेता है। पर इतना ही पर्याप्त नही, उसे और ज्यादा विश्राम चाहिए। विश्राम के लिए नीद का समय हो या काम नही रहे तो इतना तो आवश्यक ही है कि आदमी थोडा खाली रहे। आज का आदमी तो खाली रहता ही नही। सोता भी है तो समस्याओ को लेकर सोता है, सपनो के साथ सोता है। कुछ लोग तो शायद नीद से उठते है तो भी सपनो के साथ उठते है। इतने सपने, इतनी कल्पनाए, इतना भय सिरहाने लेकर सोते है कि जागने पर भी उनसे मुक्त नही हो पाते। सोते हैं तब भी भय को सिरहाने लेकर सोते है और जागते है तो सबसे पहले भगवान् का दर्शन उसी भय का होता है। उस मगल प्रभात मे, मगल वेला मे मगलमय देवता सामने आता है तो वह भय और चिन्ता का ही आता है, फिर हार्ट ट्रबल क्यो न हो, हृदय का आघात क्यो न हो ? जब भावना की बीमारी है, मन की बीमारी है तो शरीर की बीमारी न हो, यह कैसे सभव हो सकता है ? यह तो स्वाभाविक ही है। शरीर की बीमारी तो होगी ही। क्यो न होगी और शरीर की बीमारी को मिटाने के लिए आज चिकित्सा की पद्धति भी ऐसी मिल गई जो यह चाहती है कि बीमारी का चक्र टूटे नही, चक्रव्यूह टूटे नही, खडित न हो। एक बीमारी को मिटाने के लिए

इतनी तेज दवा दी जाए कि दूसरी बीमारी पैदा हो जाए। पहली चली जाए, दूसरी पैदा हो जाए। बराबर सतति चले। कही ऐसा न हो कि सतति खडित हो जाए। गोद भी यदि लेना पडे तो ले लो। भले ही बीमारी को गोद लेना पडे, पर छोड़ना नही। क्योकि नाम बराबर चलना चाहिए। आप लोग भी नाम छोड़ना नही चाहते। वंश-परम्परा को चलाने के लिए पुत्र नही होता तो जैसे-तैसे किसी को गोद ले लेते हैं कि नाम चले। नाम बराबर चलता रहेगा, अमर रहे, व्यक्ति मरे नही। बड़ा डर लगता है मरने से। तो भला बीमारी क्यो नही चाहेगी कि मैं भी अमर रहू? जब भावना आप मे है तो आपकी भावना बीमारी मे भी होगी। एक ऐसा चक्र चलता है कि कही अत नहीं होता। जिनवचन इसके लिए एक औषधि है।

चरक ने लिखा है—जो रोग को समाप्त करे और नया रोग पैदा न करे, उसका नाम चिकित्सा है। जिनवचन एक ऐसी दवा है जो बीमारी को समाप्त करती है और नयी बीमारी को पैदा नही होने देती। हमारी सबसे बडी बीमारी मानी जाती है—बुढ़ापा, जन्म और मरण। ये तीन सबसे बडी बीमारिया हैं। आदमी बूढा बनता है जब कि बूढा बनना कोई चाहता नही। आदमी मरता है जब कि मरना भी कोई चाहता नही। इसलिए बूढा होने का डर रहता है और मरने का तो सबसे बडा डर रहता है। जन्मने का डर नही लगता क्योंकि इसके बारे मे वह जानता ही नही। किन्तु जन्म लेना भी एक बीमारी मानी जाती है। चौथी बीमारी है—शरीर की। चार दुख माने जाते है—जन्म, मरण, जरा और व्याधि। जिनवचन मे बुढ़ापे को हरण करने की क्षमता है। जिनवचन मृत्यु का भी हरण कर सकता है। रोग का निवारण कर अजेय और अमर बना सकता है। ऐसा लगता है कि यह अतिशयोक्ति है। भला जिनवचन बुढ़ापे का हरण कैसे करेगा? यदि ऐसा होता तो जिनवचन का अखड पाठ कर सारे बूढे जवान बन जाते। कैसे हरण होगा? यदि मरण का हरण हो सके तो शायद जो लोग मरने के निकट है, वे तो जरूर अखड पाठ शुरू कर देंगे कि अब तो मरेंगे नही, अमरता का पट्टा हमे मिल गया। जिनवचन से यदि बीमारी समाप्त होती तो सारे दवाखाने बद हो जाते और वहा जिनवचन का अखड पाठ चलने लगता। क्या यह अतिशयोक्ति नही है? क्या लिखने वालो ने कोई ऐसी बात नही लिख दी जो अस्वाभाविक है? ऐसा सहज ही एक प्रश्न उभरता है। किन्तु हम थोडा गहराई मे जाए तो यह बात सत्य प्रतीत होगी। स्वय मेरे मन मे यह प्रश्न बहुत बार उठता था कि योग के ग्रन्थो मे जहा कही भी देखो लिखा मिलता है यह प्रयोग करो तो 'अजरामरो भविष्यति' अजर-अमर हो जाओगे। यह लिखने वाले भी मर गए। 'अजरामरो भविष्यति'—लिखने वाले स्वयं तो बूढ़े होकर मर गये, फिर कैसे उनकी बात को सच माने। शब्दो मे ही रहे तो बड़ा विरोधाभास लगता है और हृदय तक पहुचने का प्रयत्न करें तो बहुत सार भी उपलब्ध हो जाता है। अजर और अमर होगा—

इसका तात्पर्य यह नही कि कभी बूढा नही होगा और नही मरेगा। इसका मतलब यह है कि बुढापे को भी हर्ष के साथ स्वीकार कर लेगा और बुढापे के जो दुख होते है वे दुख नही होगे। मृत्यु को भी हर्ष के साथ स्वीकार करेगा और मरण का भय नही सताएगा, बल्कि सुख पहुचाएगा। बुढ़ापा भी सुखद होगा और मरण भी सुखद होगा, अधिक लाभदायी बन जाएगा। इतना तो निश्चित ही है कि ज्यादा बूढ़ा वह बनता है जो हर क्षण तनाव से भरा रहता है। आज मनोवैज्ञानिक इस बात को मानते है कि बुढापा तनाव के कारण शीघ्र आता है। जिस व्यक्ति मे मानसिक तनाव जितना ही अधिक होता है उतना ही अधिक वह बूढा बनता है, बुढापे से प्रभावित होता है। बूढे होने का लक्षण क्या है ? कुछ तो शारीरिक लक्षण होते है बुढापे के, जैसे—दात गिर जाना, बाल सफेद हो जाना, ये बुढापे के लक्षण है। कुछ मानसिक लक्षण होते है, जैसे—निराश हो जाना, श्रवण-शक्ति कम हो जाना, पुरानी बाते याद करना और याद कर दुख या सुख का अनुभव करना। एक समय हम ऐसा करते थे, हमारे समय मे ऐसा होता था, अतीत को स्मरण करना और उस पर सिर धुनना। बाते याद करते जाना, स्मृतियो का चक्का चलते रहना, स्मृतिया मुक्त होती रहे। किन्ही स्मृतियो के आधार पर आदमी हसता रहे और किन्ही स्मृतियो के आधार पर आदमी रोता रहे—यह सब बुढापे का मानसिक लक्षण है। जिस व्यक्ति मे काम करने की क्षमता होती है, वह कभी बूढा नही होता। देखता हू, जब आचार्यश्री को सामने लाता हू तो मुझे लगता है वे तो वृद्ध नही बने।

एक बार राजलदेसर मे साधु-साध्वियो की गोष्ठी थी। गोष्ठी मे लम्बी चर्चा चली। आचार्यवर ने कहा—महाप्रज्ञ ! तुम युवाचार्य हो गए इसलिए यह अपने आप ही सिद्ध हो गया कि मैं वृद्धाचार्य हो गया। पर मैं काम करने की दृष्टि से वृद्ध नही हू। काम करता रहूगा। तुम अपना काम करो, मैं अपना काम करूगा। तुम्हे इस काम मे अभी नही डालूगा। तुम्हारे कार्य मे व्यवधान मैं नही करूगा। तुम युवाचार्य हो गए इसलिए आचार्य का भी काम करो और उपाध्याय का भी काम करो। ये दोनो काम तुम्हारे चले, चलते रहे क्योकि इनकी आज बहुत जरूरत है। मै अपना काम करता रहूगा, तुम्हे अभी इन कामो मे नही डालूगा। इसका मतलब है कि मैं काम से मुक्त नही हो रहा हू।

जो आदमी काम से मुक्त हो गया, समझ लो अनायास ही वह बूढा हो गया। आज की भाषा मे रिटायर्ड होने का मतलब है—आधा बूढ़ा हो जाना, पचास प्रतिशत बूढा बन जाना। वह सोचता है—अब तो मै बेकार हू। इस 'बेकार' शब्द ने ही एक ऐसा प्रभाव पैदा कर दिया कि जो ५५ वर्ष या ५८ वर्ष का होता है, जिसमे कर्मजाशक्ति होती है, काम करने की क्षमता होती है, उससे यह कहा जाए कि अब तुम यह काम करो तो वह यही कहेगा कि अब मुझसे यह काम नही

होगा, इतना काम करूंगा तो मेरी शक्ति और घट जाएगी। अर्थात् उसे शक्ति कम होने की चिन्ता लग गई। काम करने से तो शक्ति घटती नही, पर वह चिन्ता अवश्य ही शक्ति को क्षीण कर देती है। डॉ० नथमल टाटिया इसके उदाहरण हैं। इन पर वह रिटायरमेट का असर नही हुआ। दिन मे आठ घंटा, दस घटा और बारह घंटा भी कोई काम लेने वाला हो तो काम दे देते हैं, पढ़ लेते हैं। यह अनुभव नहीं करते कि मेरी शक्ति क्षीण हो जाएगी।

यह हमारा गलत चिन्तन है। जिससे शक्ति बढ़ती है उसे हमने शक्ति क्षीण होने का साधन मान लिया और यह बुढापे की चिन्ता जो वास्तव में शक्ति को क्षीण करती है उसे पाल लिया और मन ही मन उसे कह दिया—अजर-अमर रहो तुम, हमारे साथ निरन्तर बैठो। यह मानसिक चिन्ता, मानसिक तनाव बुढ़ापा लाता है। जिनशासन मे जाने वाला व्यक्ति मानसिक चिन्ताओ, मानसिक तनावों से नही घिरता, इसलिए उसका बुढापा भी दु खदायी नही होता। यों तो वह देरी से आता है। शारीरिक बुढापा आता है तो भी मानसिक बुढापा उसे नही सताता।

जिनवाणी के द्वारा व्याधिया कैसे मिटती हैं? किस प्रकार रोग मिटाए जा सकते हैं? कितनी बडी वह चिकित्सा है? अगर इसको समझ लिया जाए, इसका उपयोग किया जाए तो डॉक्टरो को बार-बार बुलाने की जरूरत नही रहेगी। बुलाना तभी पडेगा जब कोई अनिवार्यता की स्थिति आ जाए। दवाइयो का भारी-भरकम सूचीपत्र लेकर मेडिकल की दूकानो के चक्कर नही लगाने पड़ेंगे। आज का विश्वास हमारा ऐसा हो गया है कि जो डॉक्टर दवाइयो की लम्बी तालिका बनाकर नही देता उसे हम अच्छा डॉक्टर ही नही समझते। लुधियाना के सी० एम० सी० हॉस्पिटल के मुख्य फिजीशियन ने एक दिन मुझसे कहा—महाराज! मै दवाई मे विश्वास नही करता। मैं मानता हू कि दवाइया बहुत नुकसान पहुचाती है। मैं एक दवा लिखता हू रोगी को। मैंने कहा—आपका यह विश्वास? वे बोले—मै विश्वासपूर्वक कहता हू कि दवाइया बहुत खतरनाक होती है। इसीलिए बहुत सारे रोगियो को तो यही कह देता हू कि जाओ, तुम्हे दवा की कोई जरूरत नही, भोजन बदल दो, ठीक हो जाओगे। किसी-किसी को अनिवार्य समझ-कर सिर्फ एक दवा लिख देता हू। किन्तु भरोसा नही होता रोगी को। वह छोटे डॉक्टरो के पास जाता है कि केवल एक दवा से हम कैसे ठीक होगे। डॉक्टर साहब के पास गए पर उन्होने तो कोई दवा ही नही लिखी। तो वह समझदार डॉक्टर दस-बीस दवाइया लिख देता है और पाच सौ-हजार रुपयो का बिल बना देता है। मरीज को भी डॉक्टर की योग्यता पर विश्वास हो जाता है। वह सभी से कहने लगता है कि ये डॉक्टर साहब बडे अच्छे हैं। यह है आज की मन:स्थिति, हमारी दोषपूर्ण आस्था। हमारी आस्था बदले, जिनवाणी मे बीमारियो को मिटाने की जो क्षमता है उसे हम समझें और उसका प्रयोग कर स्वास्थ्य-लाभ करे।

जिन शासन : २

एक गोष्ठी का आयोजन था। प्रिंसिपल, प्रोफेसर और लेक्चरार उपस्थित थे। उन्होने एक प्रश्न उपस्थित किया, तपस्या है यथार्थ और महावीर को हमने आज यथार्थ के रूप मे सुना। यह ठीक है कि हम यथार्थ को आखो से ओझल न करे। समस्या है—रोटी, कपडा और मकान की। आज पानी की भी समस्या बन गई, बिजली की भी समस्या बन गई, ऊर्जा की समस्या बन गई और किरोसिन तेल जैसी वस्तु की भी समस्या बन गई। तो समम्या है यथार्थ की और हम बात करते है धर्म की। धर्म से तो रोटी की समस्या हल नही होगी, यथार्थ की समस्या तो सुलझेगी नही। फिर क्या होगा ? ये बहुत सारे प्रश्न उनके मन मे उभर गए या कल मैंने चर्चा मे उभार दिए। उसी चर्चा के सन्दर्भ मे उन्होंने प्रश्न प्रस्तुत किए। सचमुच विकट प्रश्न है। एक ओर धर्म का प्रश्न, दूसरी ओर जीवन का प्रश्न। आदमी तो पूरा जी भी नही पा रहा है और हम धर्म की चर्चा करते है। उन लोगो को तो पता नही चलता जिन्हे पेट भर रोटी मिल जाती है किन्तु उन लोगो को वास्तव मे पता चलता है जिन्हे खाने के लिए हमेशा चिन्तित रहना पडता है। सुबह के लिए चिन्तित और शाम के लिए फिर चिन्तित। शाम होती है तो फिर सुबह के लिए चिन्तित। उन्हे वास्तव मे पता चलता है कि जीवन कैसे जीया जाता है। एक बार डॉ० राममनोहर लोहिया ने कहा—आप मेरे साथ गाव में चले, फिर मैं आपको बताऊ कि वास्तविकता क्या है। बडे दर्द से उन्होने कहा, कहा ही नही बल्कि आचार्यश्री से अनुरोध किया कि मुनि नथमलजी को आप मेरे साथ गाव मे भेजे। मैं उन्हे वस्तुस्थिति बताना चाहता हू। इतना आग्रह किया तो आचार्यश्री ने कहा कि समय होगा तो सभव हो सकेगा। लोहियाजी ने बताया कि हमारे हिन्दुस्तान मे सोलह करोड आदमी (पचीस-तीस वर्ष पहले की बात है) ऐसे हैं, जिन्हे पूरी रोटी भी नही मिलती। बडा विकट प्रश्न है। आज सारे संसार मे इस प्रश्न पर बहुत गम्भीरता से

चिन्तन हो रहा है। कुछ पश्चिमी दार्शनिकों ने जब इन यथार्थ समस्याओं पर विचार किया तो इस प्रश्न को और उभरने का मौका मिल गया। साम्यवाद की प्रणाली आयी, समाजवादी जीवन की प्रणाली आयी और कुछ सोचने को मिला। आज सारे संसार मे एक प्रश्नचिह्न बना हुआ है कि धर्म हमारे लिए जरूरी है या रोटी? एक पलड़े पर धर्म है और दूसरे पलड़े मे रोटी है। हम महावीर की चर्चा करें, महावीर की जयन्ती मनाए, धर्म की चर्चा करें, धर्म का समारोह मनाए तो इन दोनो के बीच मे खड़ा रहना होगा। एक पलडे में धर्म होगा, महावीर होगे या कोई और अवतार होगा और दूसरे पलडे मे रोटी-पानी होगी। हम दोनों के संदर्भ मे किसकी चर्चा करें? रोटी के सन्दर्भ मे महावीर की चर्चा करें या महावीर के सन्दर्भ मे रोटी की चर्चा करे? क्या करें? यदि रोटी के सन्दर्भ मे हम धर्म की चर्चा करते हैं तो ऐसा लगता है कि धर्म की कोई आवश्यकता नही है और धर्म के सन्दर्भ मे रोटी की चर्चा करते हैं तो ऐसा लगता है कि रोटी की समस्या है ही नही।

मैंने प्रश्न के उत्तर मे कहा—अपना-अपना दृष्टिकोण है। एक ही बात को हम दो दृष्टियो से ही नही, हजार दृष्टियो से देख सकते हैं। दृष्टा का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। राम ने हनुमान से पूछा कि जहां सीता रहती थी वह वाटिका कैसी थी? वाटिका मे क्या था? उसके पेड़-पौधे कैसे थे? उसके फूल कैसे थे? हनुमान ने सारा वर्णन किया कि फूलों की बगिया थी, फूल थे, सारे फूल लाल ही लाल थे। वह लाल फूलो की बगिया थी। सीता से भी पूछा। उन्होंने भी कहा—सही बात है। हनुमान का सारा वर्णन सही है, पर एक बात वह गलत कह रहा है। फूल लाल नही, फूल बिलकुल सफेद थे। वह सफेद फूलों की बगिया थी। कितना बडा अन्तर? दोनों प्रत्यक्षदर्शी। सीता भी प्रत्यक्षदर्शी और हनुमान भी प्रत्यक्षदर्शी। सुनी-सुनाई बात झूठी हो सकती है पर आखो-देखी बात और वे भी दोनो आखो से देखने वाले। हनुमान कहते हैं फूल थे लाल और सीता कहती हैं फूल थे सफेद। बहुत बडा अन्तर है। राम तो द्रष्टा थे। उन्होने कहा—बिलकुल ठीक है। सीता ने कहा—यह गलत कह रहा है। राम ने कहा—यह बिलकुल ठीक कह रहा है, गलत नही कह रहा है। सीता घोर आश्चर्य मे पड गई। मै वहा रही, फूलो को देखा और राम मुझे झूठा बता रहे है, हनुमान की बात को सच कह रहे है। यह कैसे? सीता ने पूछा—दोनों ठीक कैसे हो सकते हैं? राम ने कहा—तुम शान्त थी। तुमने शान्त आंखो से फूलो को देखा, इसलिए तुम्हे फूल सफेद ही दिखाई दिए। हनुमान ने क्रोध भरी आंखो से, उत्तेजना भरी आखो से फूलो को देखा है इसलिए उसे लाल ही दिखाई दिए, सफेद कैसे दिखाई देते? दोनो ठीक ही कहते हो।

एक बात को अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है। देखने का कोण एक ही

नहीं होता, देखने की दृष्टि एक नही होती। एक ही बात को हम दो से नहीं, अगर हम व्यापकता मे जाए, अपनी चेतना को विकसित करें तो एक घटना को, एक बात को, एक तथ्य को अनत-अनत दृष्टियो से देख सकते हैं। जब अनत दृष्टियो से देखते हैं तब हमे सचाई का पता चलता है। एक दृष्टि से देखते हैं तब सचाई का पता नही चलता। कहते तो हैं, मै सबको एक आख से देखता हू, पर एक आख से देखना अच्छा थोडे ही होता है। यह तो बडे गर्व के साथ कहा जाता है कि सबको एक आंख से देखता हू। ठीक है, जिसे दूसरी आख प्राप्त ही नही तो बेचारा दोनो से देखेगा क्या ? एक से ही देखेगा। पजाब का राजा रणजीत सिंह। एक मुसलमान कुरान शरीफ लिखकर लाया। बहुत बडी और कीमती। मत्री को दिया। मत्री ने देखा बहुत सुन्दर लिखा है। मूल्य बहुत अधिक मागा गया, कई हजारो मे। मत्री ने अस्वीकार कर दिया। सम्राट् ने देखा और कहा—ऐसा नही हो सकता। मूल्य देकर उसे खरीद लिया। लोग बडे आश्चर्य मे पडे। उन्होने कहा—महाराजप्रवर! यह आपने क्या किया? आप तो हिन्दू है, सिख है, इस्लाम धर्म को मानने वाले नही और एक इस्लामी ग्रन्थ के लिए आपने इतनी बडी कीमत चुका दी, यह कैसे किया ? राजा ने कहा—'मै सबको एक ही आख से देखता हू।' बिलकुल ठीक बात थी। क्योकि उन्हे एक ही आख उपलब्ध थी, दूसरी थी ही नही। प्रकृति की देन थी ऐसी। एक से देखना ही कोई बहुत अच्छी बात नही होती और अनेक से देखना कोई बुरी बात नही होती। एक से देखना अच्छा हो सकता है, किन्तु अनेक से देखना बहुत अच्छा। हम अनेक दृष्टियो से देखे समस्या को तो पता चलेगा कि रोटी की समस्या तो वास्तव मे समस्या है ही नही। यह समस्या मनुष्य ने पैदा की है। पदार्थ के जगत् मे कोई समस्या नही है। समस्या हमारी चेतना के जगत् मे है। मनुष्य ने ही इस समस्या को जन्म दिया है। मेरा निश्चित विश्वास है कि यदि मानसिक समस्याए नही होती तो दुनिया मे रोटी की समस्या कभी पैदा ही नही होती। रोटी की समस्या तभी है जब आदमी स्वय समस्या से घिरा हुआ हो, अपनी मानसिक समस्याओ से उलझा हुआ हो। उसमे क्रोध है, अहकार है, कपट है, वह छिपाना जानता है। प्रचुर पदार्थ है, पर छिपा देता है, सब गायब हो जाते है। उसमे लोभ है, वह सग्रह करना जानता है। आज यदि सग्रह की समस्या न हो तो मनुष्य के लिए रोटी की कोई समस्या नही है। यह समस्या सग्रहखोरो के द्वारा पैदा की गई समस्या है। यह समस्या आलसी और जमाखोरो के द्वारा पैदा की गई समस्या है। वास्तव मे सबसे बडी समस्या हमारी मानसिक समस्या है। कुछ शाश्वत सत्य होते हैं, यूनिवर्सल लॉ होते है, यूनिवर्सल ट्रुथ होते है और उनके आधार पर समाज का जीवन चलता है। शाश्वत नियमो की अवहेलना कर मनुष्य अपना कानून, अपना विधान और अपनी आचार-सहिता बनाता है, तब वास्तव मे समस्याए पैदा होती

हैं। जो लोग इन शाश्वत नियमों को मानकर चलते हैं, उनके लिए समस्याए पैदा ही नही होती। मैं मानता हू धर्म और कुछ नही, एक शाश्वत नियम की व्याख्या है। धर्म जागतिक नियम है, सार्वभौम नियम है। इस नियम की कोई अवहेलना प्रकृति मे नही होती। इस नियम के आधार पर यदि हमारे जीवन की यात्रा चले तो रोटी की समस्या पैदा नही होगी। हमने कृत्रिम समस्याए पैदा की है। समस्या वास्तव मे कृत्रिम है। मूल समस्या है मन की समस्या, इन्द्रियो की उच्छृंखलता, कषाय की प्रबलता, रागद्वेष और स्वामित्व की भावना तथा अहकार की प्रबलता—ये ही वास्तव मे सारी समस्याए है। यदि इन समस्याओ का समाधान होता है तो यथार्थ लगने वाली समस्याए अपने आप सुलझ जाती है, किन्तु हमने द्वय को सुलझाने का प्रयत्न किया, प्रथम की ओर ध्यान नही दिया। एक महान् इतिहासकार ने लिखा है कि रोटी की समस्या मे यदि मनुष्य डूबा रहे तो यह सबसे बडी मूर्खता होगी। समस्या तो वास्तव मे दूसरी है। एक महायुद्ध होता है और भयकर बीमारी की स्थिति आ जाती है। सब लोग जानते है कि द्वितीय महायुद्ध नही हुआ था तब पदार्थों की कीमतें क्या थी और कितनी समस्याए थी तथा द्वितीय महायुद्ध के बाद कितनी समस्याए सामने आयी। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व एव उत्तरकालीन लोग जानते है कि कितना अन्तर आया है मूल्यो मे और परिस्थितियो मे। एक बार युद्ध होता है तो हजारों कठिनाइया सामने पैदा हो जाती है। हम गहराई से चिन्तन करें कि वास्तव मे समस्या मानसिक है या रोटी की समस्या है ? उन सारी समस्याओ का समाधान धर्म हो सकता है, महावीर हो सकते है। समाजवादी और साम्यवादी प्रणालिया कभी नही हो सकती।

आज के ससार मे सबसे बडी समस्या है—भय की समस्या। एक है असहिष्णुता की समस्या, उत्तेजना की समस्या और दूसरी है भय की समस्या, बीमारी की समस्या। इन बढती हुई बीमारियो से डॉक्टर परेशान है। आज कितना फैला है डॉक्टरो का जाल। पुराने जमाने मे इतने वैद्य और डॉक्टर कहा थे ? मुश्किल से बडे गावों मे एक मिलता और छोटे गावो मे तो होता ही नही था। कहा थी इतनी दवाइया और कहा थे इतने साधन ? तो फिर साथ-साथ चलना होगा। बीमारिया नही थी क्योकि बीमारियो के कारण नही थे। यद्यपि पानी साफ नही था, और भी पदार्थ अच्छे नही रहे होंगे, फिर भी मनुष्य की रोग-प्रतिरोधक शक्ति इतनी प्रबल थी कि बीमारिया आती—शरीर तक पहुचती और शरीर से इतना आक्रमण होता कि वे वापस लौट जाती। आज मनुष्य की रोग-निरोधक शक्ति इतनी कमजोर हो गई कि बीमारी पडोसी के होती है, फिर भी पहले उस तक पहुच जाती है। ऐसा क्यो हुआ ? इसलिए कि भय बढ़ा है। आज सारा जीवन भय से भरा हुआ है। सारा जीवन कृत्रिम बन गया। साधन भी कृत्रिम, श्वास भी कृत्रिम, बहुत से लोगों का तो हार्ट भी कृत्रिम, और भी

बहुत सारे अवयव कृत्रिम या बनावटी मिल जाएंगे।

खलील जिब्रान एक बहुत बडे विचारक हुए हैं, बहुत बड़े दार्शनिक। एक बार वे खेत मे गए। देखा—एक हड़प्पा खड़ा है (बनावटी आदमी)। उसके पास जाकर बोले—भैया! तुम चौबीस घटे खड़े रहते हो, कभी थकते नहीं? हड़प्पे ने उत्तर दिया—नही थकता। जिब्रान ने आश्चर्य से पूछा—इसका राज क्या है, हमे भी तो बताओ? हड़प्पे ने उत्तर दिया कि ये जो पक्षी आते हैं इन्हें उडाने मे मुझे बडा मजा आता है। खलील जिब्रान बोला कि आदमी को डराने मे तो मुझे भी मजा आता है। हड़प्पे ने कहा—क्या तुम भी मेरी तरह बनावटी आदमी हो?

सचमुच आज आदमी बनावटी बन गया। सारी कृत्रिमता, सारी औपचारिकता, वास्तविकता ढूढने से मुश्किल से ही मिलती है। इतना कृत्रिम जीवन हो गया, भयभीत जीवन हो गया कि बीमारी नही होगी तो क्या होगा?

हमारी चर्चा चल रही थी, जिनवचन एक दवा है, एक औषधि है बीमारियो की। ध्यान से सुने और एक बात पर विशेष ध्यान दें कि शरीर में कोई बीमारी हो तो पहले डॉक्टर को न बुलाएं, वैद्य को न बुलाए, किसी को न दिखाए। पहले एकान्त मे बैठकर पाच मिनट कायोत्सर्ग करें, बिलकुल स्थिर और शान्त होकर आत्मालोचन करें कि मैंने कौन-सी विकृति की जिससे कि यह बीमारी हुई है। कुछ बीमारिया क्रोध के कारण पैदा होती हैं। कुछ बीमारिया हमारे कपट और माया के कारण पैदा होती हैं, कुछ बीमारिया लोभ के कारण तो बहुत सारी बीमारिया हमारी इन्द्रियो के असयम के कारण पैदा होती हैं। हम पहले अपना आत्मालोचन करे एकान्त मे शान्ति के साथ कि मैंने कौन-सा दोष किया है जिसके कारण यह बीमारी हुई है। डॉक्टर को बहुत बुलाने की जरूरत नही पडेगी। हम भी बडे विचित्र आदमी हो गए कि होता कुछ ही है और करते कुछ ही हैं। बीमारी होती है अपनी मानसिक दुर्बलताओ के कारण और चक्कर लगाते रहते है डॉक्टरो और वैद्यो के। उनके पीछे दौडते जाते है, दवाई लेते जाते हैं, बीमारी का पता ही नही चलता। ठीक बात को नही पकडते, मूल बात को नही पकड़ते—यह अज्ञान है हमारा।

पुराने जमाने की बात है—कोई पाहुना आया। खाने को अनार ले लिया हाथ मे। देखा—बीज ही बीज। सब फेंक दिया, छिलका खाने लगा। खारा लगा। यह क्या? इससे अच्छा तो हमारा मतीरा होता है। थोडे बीज होते हैं, आसानी से निकाल दिए जाते है। यह तो सारा बीजो से ही भरा है। उससे पूछा गया—फल खा लिया? खा तो लिया पर यह कैसा फल दिया मुझे? इससे तो हमारा ककडिया ही अच्छा होता है। बीज होते है उसमे तो बीच मे होते है। मैंने तो इसके सारे बीज फेक दिए और शेष खाया तो कडवा लगा।

लगता है कुछ ऐसी ही अजीब स्थिति हमारी भी हो गई है कि बीजों को तो

फेंकते चले जा रहे हैं और छिलके को खा रहे हैं। मानसिक समस्याओं को सुलझाने की जो बातें है उन्हें तो अनदेखा करते जा रहे हैं, फेंकते जा रहे हैं और पीछे जो कडवाहट है उसे खाते चले जा रहे हैं। हम कुछ आत्मालोचन करें, कुछ विचार करें, विमर्श करें। जो समस्या पहली नही है उसे पहली नही मानें और जो पहली है उसे दूसरी न मानें। आज की सारी समस्याओं मे मुझे एक समस्या बडी लगती है—दृष्टि का विपर्यय, मिथ्यादृष्टि हमारी बन गई। उसका परिणाम यह हुआ कि जो मुख्य है उसे गौण मान रहे हैं और जो गौण है उसे मुख्य मान रहे हैं। बहुत परिवर्तन करने की आवश्यकता नही, केवल इतना-सा परिवर्तन हम करें कि मुख्य को मुख्य मानें और गौण को गौण मानें। प्रथम को प्रथम मानें, द्वय को द्वयं मानें। इतना-सा सामान्य परिवर्तन हो जाता है तो मेरा विश्वास है कि यथार्थ मानी जाने वाली समस्याएं अपने आप सुलझ जाएगी।

हम सम्यक्दृष्टि बनें। जिनवाणी का सबमे पहला औषध-तत्त्व है—सम्यक्-दृष्टि। यह सबसे बडी दवा है। प्राकृतिक चिकित्सा मे जब तक एनिमा नही दिया जाता, पेट की सफाई नही होती तब तक और दवा नही दी जाती। अनिवार्य है पेट की सफाई। विजातीय तत्त्व को बाहर निकाल देना, बाहर फेंक देना। हमारे भीतर मिथ्या तत्त्व का कितना विजातीय तत्त्व भरा पडा है। हम सम्यक्दृष्टि बनें, अपने को सम्यक्दृष्टि करे। यथार्थ को यथार्थ माने। इतना-सा परिवर्तन हो जाए तो जिनवचन एक दवा है, एक औषधि है कि हम वर्तमान की समस्याओ को सुलझा सकते है, हमारी बीमारियो को मिटा सकते हैं। न केवल मानसिक बीमारियो को मिटा सकते हैं बल्कि शरीरिक बीमारियो को भी मिटा सकते है। एक आदमी नीद लेने के लिए गोलिया लेता है, मन की शान्ति के लिए गोलिया लेता है। अमेरिका जैसे देश मे अरबों रुपयो की गोलिया बिकती है। आपको जरूरत क्या है ? आप प्रयोग करें जिनवाणी का।

'चइत्ता भारह वास, चक्कवट्टी महिड्ढियो।
सति सतिकरे लोए, पत्तो गई मणुत्तरं।।

इतना बडा ट्रैंक्विलाइजर है यह श्लोक कि भयकर अनिद्रा के रोगी को भी नीद आ जाए। हम ध्वनि को, ध्वनि के चमत्कारो को भूल गए। हजारों दवाइया जो काम नही कर सकती वह काम एक मत्र का उच्चारण कर सकता है। हम अपनी दृष्टि को बदलें, उसे सम्यक् करें और सोचें। जिस महामत्र का हम दिन-रात प्रयोग करते हैं और 'एमो पच णमोक्कारो, सव्व पाव पणासणो' बोलते है—यह मत्र सब पापों का नाश करने वाला है तो बीमारी फिर कैसे बच पाएगी। सोचते जा रहे है, समझ नही पा रहे हैं, आस्था का निर्माण नही हो रहा है। आस्था का अनुबन्ध करें और दृष्टि को सम्यक् करें तो मुझे लगता है कि जिनवाणी परम औषधि है हमारे दुखो को मिटाने की।

जीव : स्वरूप और लक्षण

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। उसमे जीव और अजीव दोनो की स्वतत्र सत्ता स्वीकृत है—न अजीव से जीव उत्पन्न होता है और न जीव से अजीव। दोनो अनादि-अनन्त द्रव्य है, दोनो के बीच एक शाश्वत भेदरेखा है—चैतन्य। जीव मे चैतन्य होता है, अजीव मे नही। यह चैतन्य ही जीव की स्वतत्र सत्ता का हेतु है।

जगत् मे दो प्रकार के तत्त्व है—अमूर्त और मूर्त। द्रव्य का मूर्तीकरण वर्ण, गध, रस, स्पर्श और आकार के द्वारा होता है। परमाणु पुदगल मे ये सभी होते है, इसलिए वह मूर्त द्रव्य है। जीव मे वर्ण आदि नही है, इसलिए वह अमूर्त द्रव्य है।

अमूर्त द्रव्य अदृश्य होता है। जो मूर्त होता है वह सब दृश्य नही होता, किन्तु जो दृश्य होता है वह मूर्त होता ही है। सूक्ष्म परिणति वाला मूर्त द्रव्य दृश्य नही होता। दृश्य वही होता है, जिसकी परिणति स्थूल हो जाती है। जीव अमूर्त द्रव्य है, इसलिए वह इन्द्रिय द्वारा दृश्य नही है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि द्वारा गम्य भी वह नही है। उसका गुण है—चैतन्य। वह भी अदृश्य है। वह कार्य के द्वारा जाना जा सकता है, किन्तु इन्द्रिय द्वारा उसका बोध नही होता। जीव के अस्तित्व की अस्वीकृति का सबसे बडा हेतु है—उसकी अमूर्तता। भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रो से कहा—जैसे अरणी मे अग्नि उत्पन्न होती है, दूध मे घी, तिलो मे तेल, वैसे ही शरीर मे जीव उत्पन्न हो जाता है। इसका अपना स्वतत्र अस्तित्व नही है। यदि वह स्वतत्र होता तो जीव हमारे सामने प्रत्यक्ष होता। इस तर्क के उत्तर मे पुत्र बोले—पिता ! वह हमारी इन्द्रियो के प्रत्यक्ष नही है इसका कारण उसके अस्तित्व का न होना नही है, किन्तु उसका कारण है उसकी अमूर्तता।

चैतन्य एक सूर्य

जीव स्व-परप्रकाशी है। उसमे अपने आपको और वस्तु और जगत् दोनो को

जानने की क्षमता है। उसका चैतन्य साधारणतया आवृत-अनावृत अवस्था में रहता है। चैतन्य एक सूर्य है। वह आवरण के बादलो से ढक जाने पर भी सर्वथा आच्छन्न नही होता। आकाश मे बादलो का घटाटोप है, सूर्य उससे ढका हुआ है, फिर भी दिन और रात का विभाग बना रहता है। जीव मे विद्यमान ज्ञानरूपी चैतन्य, आवरण से पूर्ण आवृत कभी नही होता। उसमे चैतन्य-विकास की कुछ रश्मियां निरन्तर प्रकट रहती है। यदि वे प्रकट न हो तो जीव और अजीव मे कोई भेदरेखा नही खीची जा सकती।

आवृत-अनावृत चैतन्य मे जानने की क्रिया निरन्तर नहीं होती, इसलिए जीव जब जानने का प्रयत्न करता है तब जानता है, जब जानने का प्रयत्न नही होता, तब उमका ज्ञान केवल अस्तित्व मे रहता है। इस आधार पर जीव की अनुपयोग और उपयोग, इन दो अवस्थाओं का निर्माण होता है—

आवृत-अनावृत चैतन्य = अनुपयोग, ज्ञेय का ज्ञान नही होता।

आवृत-अनावृत चैतन्य = उपयोग, ज्ञेय का ज्ञान होता है।

विकास का अन्तिम बिन्दु उपलब्ध होने पर, ज्ञान के आवरण का सर्वथा विलय हो जाने पर चैतन्य अनावृत हो जाता है। उस अवस्था मे चैतन्य का स्वरूप इस प्रकार बनता है।

अनावृत चैतन्य-सतत उपयोग = ज्ञेय का सतत बोध।

जीव अनादि-अनन्त

जीव अनादि और अनन्त है। वह अकृत और अनुत्पन्न है, इसलिए अनादि है। वह अकृत और अविनाशी है, इसलिए अनन्त है। चैतन्य उसका मौलिक गुण या स्वरूप है, इसलिए वह भी अनादि-अनन्त है। अनेकान्त की दृष्टि से प्रत्येक अस्तित्व त्रिरूप होता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—तीनो समन्वित रूप मे द्रव्य के लक्ष्य है। ध्रौव्य द्रव्य का शाश्वत स्वरूप है। उत्पाद और व्यय—ये दोनो उसके अशाश्वत रूप है। प्रत्येक द्रव्य शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। अस्तित्व कभी समाप्त नही होता, इस अपेक्षा से वह शाश्वत है। उसका रूपान्तरण होता रहता है, इस अपेक्षा से वह अशाश्वत है। चैतन्य शाश्वत है। आवरण उसका अशाश्वत भाव है। वह पौद्‌गलिक है, जीव का स्वभाव नही है। वह प्रवाह के रूप मे आता है और अपनी अवधि पूर्ण कर चला जाता है। उचित उपाय के द्वारा उसका अन्त भी किया जा सकता है। इसे दो रूपो मे देखा जा सकता है—

ज्ञान का आवरण, अनादि-अनन्त (उचित उपाय के अभाव मे)

ज्ञान का आवरण, अनादि सान्त (उचित उपाय होने पर)

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी जीव मे पूर्ण अनावरण की अवस्था विकसित नही हो सकती। आंशिक अनावरण प्रत्येक जीव मे विकसित होता है।

जीव और शरीर

प्रत्येक संसारी जीव के सामान्यतया तीन शरीर होते हैं : (१) औदारिक शरीर (स्थूल शरीर), (२) तैजस शरीर (सूक्ष्म शरीर), (३) कर्म शरीर (सूक्ष्मतर शरीर)।

औदारिक शरीर का जीवन के आरम्भ मे निर्माण होता है और जीवन की समाप्ति के साथ उसका वियोग हो जाता है। वह कर्म शरीर का सवावी शरीर होता है। कर्म-शरीर मे चेतना के विकास और अवरोध के जितने केन्द्र होते है, वे सब-के-सब औदारिक शरीर मे बन जाते हैं। कर्म शरीर से आने वाले स्पन्दन औदारिक शरीर के केन्द्रो के माध्यम से अभिव्यक्त होते है। वे व्यक्ति के दृष्टि-कोण, व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते है।

तैजस और कर्म शरीर जीव के साथ निरन्तर जुडे रहते हैं। मृत्यु के पश्चात् और पुनर्जन्म से पूर्व जो गति होती है उसे अन्तराल गति कहा जाता है। उस गति मे भी वे जीव के साथ रहते है, इसलिए उसके स्थूल शरीर का पुनर्निर्माण या पुनर्जन्म होता है।

वैक्रिय और आहारक ये दोनो शरीर लब्धि या योग विभूति से उत्पन्न होते है। वैक्रिय शरीर के द्वारा नाना रूपो का निर्माण किया जा सकता है। आहारक शरीर के द्वारा विचारो का सम्प्रेषण किया जा सकता है। कुछ जीवो के वैक्रिय शरीर जन्मगत भी होता है।

प्राण एक सेतु

जीव और शरीर के बीच प्राण एक सेतु है। शरीर, वचन और मन का उपयोग प्राणशक्ति के द्वारा ही किया जाता है। एक ही प्राणशक्ति कार्य-भेद से दस भागो मे विभक्त हो जाती है—

१ स्पर्शन इन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (स्पर्शनेन्द्रिय प्राण)।
२ रसनेन्द्रिय को सचालित करने वाली प्राणशक्ति (रसनेन्द्रिय प्राण)।
३ घ्राणेन्द्रिय को सचालित करने वाली प्राणशक्ति (घ्राणेन्द्रिय प्राण)।
४ चक्षुरिन्द्रिय को सचालित करने वाली प्राणशक्ति (चक्षु-इन्द्रिय प्राण)।
५. श्रोत्रेन्द्रिय को सचालित करने वाली प्राणशक्ति (श्रोत्रेन्द्रिय प्राण)।
६. शरीर को सचालित करने वाली प्राणशक्ति (शरीर प्राण)।
७ श्वासोच्छ्वास को सचालित करने वाली प्राणशक्ति (श्वासोच्छ्वास प्राण)।
८. वाणी को सचालित करने वाली प्राणशक्ति (भाषा प्राण)।
९. मन को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (मन.प्राण)।

१०. जीवन को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (आयुष्य प्राण)।

जीवन की सारी प्रवृत्तियां इस प्राण-ऊर्जा के द्वारा सक्रिय होती हैं। इसके आधार पर जीवन और मृत्यु की परिभाषा बनती है। प्राणशक्ति का होना जीवन है और प्राणशक्ति का चुक जाना मृत्यु।

जीव और काय

शरीर-रचना के आधार पर जीव छह भागो मे विभाजित होता है—

१. पृथ्वीकाय, २. अप्काय, ३. तैजसकाय, ४. वायुकाय, ५. वनस्पतिकाय, ६. त्रसकाय।

साधारणतया त्रसकाय को गतिशीलता के आधार पर जीव माना जाता है। वनस्पति को भी कुछ लोग जीव मानते हैं। जैन दर्शन मे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को भी सजीव माना गया है। जैन दर्शन का सिद्धान्त है कि दृश्य या स्थूल जगत् जीवो के द्वारा निर्मित होता है। जितना दृश्य जगत् है वह या तो जीवयुक्त शरीर है या जीवमुक्त शरीर। ऐसा कोई भी तत्त्व दृश्य नही है जो जीव के शरीर के रूप मे परिणत न हुआ हो।

जीव के इन छह कायो मे वनस्पतिकाय जीवो का अक्षय कोष है। केवल इसी काय मे अनन्त जीव होते हैं। विकास की प्रक्रिया के अनुसार जीव वनस्पति से निकलकर आगे की यात्रा तय करता है।

जीव और आत्मा

'भगवती सूत्र' मे जीव के तेईस पर्यायवाची नाम दिए है १. जीव, २. जीवास्तिकाय, ३. प्राण, ४. भूत, ५. सत्य, ६ विज्ञ, ७. वेदक, ८. चेतस्, ९ जेता, १० आत्मा, ११. रगण, १२. हिण्डुक, १३ पुद्गल, १४. मानव, १५. कर्ता, १६ विकर्ता, १७. जय, १८ जन्तु, १९. योनि, २० स्वयभू, २१. सशरीर, २२ ज्ञायक, २३. अन्तरात्मा।

(भगवती २०/१७)

शाब्दिक दृष्टि से जीव का अर्थ होता है प्राण-धारण करने वाला और आत्मा का अर्थ होता है चेतना की विविध अवस्थाओ का अनुभव करने वाला, किन्तु स्थूल व्यवहार मे इन्हे एकार्थक कहा जा सकता है।

जीव दो प्रकार के होते हैं बद्ध=कर्म शरीर से बधा हुआ, मुक्त=कर्मशरीर से पृथग्भूत।

बद्ध और मुक्त

जीव जब बद्ध अवस्था में होता है तब पुनर्जन्म का चक्र आगे-से-आगे बढ़ता

रहता है। बद्ध अवस्था कर्म, वातावरण और परिस्थिति से प्रभावित अवस्था है; इसलिए उसका स्वरूप बदलता रहता है, उसकी गति बदलती रहती है। वह कभी मनुष्य हो जाता है, कभी पशु, कभी नारक और कभी देव। उसकी जाति भी बदलती रहती है। कभी चतुरिन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय या एकेन्द्रिय। इसके उत्क्रमण और अपक्रमण दोनो होते रहते है। विकास के बाद अविकसित अवस्था मे जाने का नियम चेतना की स्वतन्त्रता का नियम है। विकास और अविकास दोनो सापेक्ष है। कषाय की स्थिति मे ये दोनो घटित होते है; इसलिए चेतन जगत् के नियमों को समझना सहज/सरल नही है। ये अचेतन जगत् की भाति स्थिर नियम नही है। आन्तरिक विकास और अविकास के साथ-साथ वे बदलते रहते है। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण जीव का रूप भी बदलता रहता है। मुक्त आत्मा का स्वरूप निश्चित हो जाता है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि जीव का वास्तविक स्वरूप वह है जो मुक्त आत्मा मे विकसित है। मुक्त आत्मा मे ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति—ये सब अनन्त हो जाते है। उनकी अनन्तता ही जीव का वास्तविक स्वरूप है।

दोहरा व्यक्तित्व

मनोवैज्ञानिक मानते है कि कुछ व्यक्तियो के मस्तिष्क की दो परते होती हैं। कभी एक प्रकार का व्यक्तित्व काम करता है तो कभी दूसरे प्रकार का। जैन-दर्शन के अनुसार जिसमे पूर्ण अनावरण की अवस्था विकसित नही है उसमे दोहरा व्यक्तित्व होता है। इसका हेतु यह है कि जीव मे कर्म-पुद्गल की सक्रियता और निष्क्रियता दोनो विद्यमान रहती है। कर्मशास्त्र की भाषा मे कर्म की सक्रियता को औदयिक व्यक्तित्व और उसकी निष्क्रियता को क्षायोपशमिक व्यक्तित्व कहा जाता है।

औदयिक व्यक्तित्व के लक्षण है १. जानने और देखने की अक्षमता। २ मूर्च्छा का अनुभव—आवेग, भय और काम-वासना का अनुभव। ३ सामर्थ्य-हीनता का अनुभव। ४ सुख-दु ख का अनुभव। ५ उच्चता-नीचता का अनुभव। ६ शुभ-अशुभ का अनुभव। ७ जीवन-मृत्यु का अनुभव।

क्षायोपशमिक व्यक्तित्व के लक्षण है १ जानने-देखने की क्षमता का अनुभव। २ अमूर्च्छा का अनुभव—आवेग-शून्यता, अभय, काम-वासना-मुक्ति और आनन्द का अनुभव। ३ सामर्थ्य का अनुभव। ४ सवेदन-मुक्ति का अनुभव।

व्यक्तित्व की ये दोनो परते हर व्यक्ति के मस्तिष्क मे होती हैं। अपने चैतन्यमय स्वरूप के प्रति जागरूकता के क्षण मे क्षायोपशमिक व्यक्तित्व की परत सक्रिय होती है। मूर्च्छा के क्षण मे औदयिक व्यक्तित्व की परत सक्रिय होती है।

इन दोनों के प्रभाव से दोहरा व्यक्तित्व बनता है। यह जीव का वास्तविक स्वरूप नही है, किन्तु अनावरण की अवस्था के विकास से पूर्व उसका यही रूप उपलब्ध होता है। चैतन्य का अनावरण होने पर यह दोहरा व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है, तभी उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसे क्षायिक व्यक्तित्व कहते है।

सशरीर और अशरीर

जीव संसार मे रहता है तब तक सशरीर होता है। वह शरीर मे रहता है और उसका फैलाव भी शरीर जितना ही होता है, इसलिए उसे (जीव को) देह-परिमाण कहा गया है। वह न तो शरीर के किसी हिस्से मे केन्द्रित है और न पूरे लोक मे व्याप्त है, किन्तु वह पूरे शरीर (नाडी-सस्थान) मे व्याप्त है। मुक्ति के प्रथम क्षण मे वह अशरीर हो जाता है। उस अवस्था में भी वह पूरे लोक मे व्याप्त नही होता, किन्तु जिस शरीर से मुक्त होता है उसी के त्रिभागहीन क्षेत्र मे वह व्याप्त हो जाता है।

यह अशरीर अवस्था जीव की सर्वथा पुद्गलमुक्त या अचैतन्य-वियुक्त अवस्था है। इस अवस्था के उपलब्ध होने पर जीव फिर कभी पुद्गल से युक्त नही होता, उससे प्रभावित नही होता।

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का स्थान

अनुभव और तर्क के आधार पर अनेक दृष्टिया विकसित हुई हैं। अनुभव और चिन्तन के तारतम्य से ऐसा होना अस्वाभाविक नही है। परिभाषाओ की सरचना मे भी अन्तर है। भारतीय दर्शनो का वर्गीकरण ब्राह्मण और श्रमण—इन दो धाराओ मे किया जा सकता है। मीमासक और वेदान्त ब्राह्मण-धारा के दर्शन है। जैन और बौद्ध श्रमण-धारा से सम्बद्ध है। साख्य का पूर्वरूप श्रमण-धारा से सम्बद्ध था किन्तु आधुनिक रूप ब्राह्मण धारा से जुडा हुआ है। न्याय-वैशेषिक भी मूलत ब्राह्मण-धारा के नही रहे है। यह परम्परा-स्रोत के आधार पर किया जाने वाला वर्गीकरण है। यह अहेतुक नही है। फिर भी इससे वह प्रयोजन सिद्ध नही होता, जो चिन्तन के क्षेत्र मे अपेक्षित है। साख्य और जैन दर्शन मे जो चिन्तन का सामीप्य है, वह साख्य और मीमासा मे नही है। वैशेषिक के परमाणुवाद और वेदान्त के ब्रह्मवाद मे कोई समानता नही है। इसलिए चिन्तन-धाराओ का वर्गीकरण अपेक्षित हैं। परम्पराओ के आधार पर किया जाने वाला वर्गीकरण दार्शनिक विकास और मूल्याकन मे विशेष उपयोगी नही है। अनेकान्त के व्याख्याकार आचार्यों ने चिन्तन के आधार पर दर्शनो का वर्गीकरण कर दर्शन के क्षेत्र मे एक नया अध्याय जोडा था। उससे मूल्याकन का दृष्टिकोण बदल जाता है। अब तक दर्शन के समीक्षको ने वेदान्त के आधार पर दर्शनो का मूल्याकन किया है। किसी एक दर्शन के आधार पर तटस्थ मूल्याकन करना सम्भव नही लगता। दृष्टियो के आधार पर वह सम्भव हो सकता है। जैन दार्शनिको ने दृष्टियो के आधार पर दर्शनो की समीक्षा की। उन्होने किसी की दृष्टि को हेय या असत्य घोषित नही किया। सत्यानुसन्धान की एक दृष्टि को इतर दृष्टियो से जोडकर उसकी सत्यता का प्रतिपादन किया। अभेद-दृष्टि का जितना विकास वेदान्त ने किया, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। भेददृष्टि के विकसित प्रतिपादन मे बौद्ध सबसे आगे है। जैन दर्शन ने अभेद और भेद मे अविरोध की स्थापना की। उसके अनुसार अभेद और भेद सापेक्ष हैं। उन्हें पृथक्

नहीं किया जा सकता। अभेद और भेद—दोनों एक ही पदार्थ को देखने की दो दृष्टियां हैं। सामान्य की दृष्टि से देखने पर अभेद ही अभेद फलित होता है और विशेष की दृष्टि से देखने पर भेद ही भेद फलित होता है। दोनों दृष्टियां संयुक्त होती हैं तब सत्य का दर्शन होता है। सांख्य-सम्मत आत्मा कूटस्थ है और बौद्ध-सम्मत आत्मा क्षणिक है। अपरिणामी आत्मा का विकास जितना सांख्य ने किया उतना अन्य दृष्टि में उपलब्ध नहीं है। परिणामी चेतना के प्रतिपादन मे बौद्धो ने बहुत सफलता प्राप्त की। जैन दर्शन ने आत्मा को परिणामी-नित्य स्थापित कर दोनों दृष्टियों को समन्वित कर दिया। जैन दर्शन ने यह घोषणा की—कोई भी दृष्टि असत्य नही है, प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है, किन्तु दूसरी दृष्टियों से सापेक्ष हुए बिना वह पूर्ण सत्य नहीं बनती। इस घोषणा ने दार्शनिक मूल्यांकन का सारा दृष्टिकोण ही बदल दिया। आश्चर्य है कि दार्शनिको ने इस घोषणा पर ध्यान नही दिया। यदि इस पर ध्यान दिया जाता तो दर्शनो के परस्पर खंडन-मंडन या जय-पराजय की बात नही होती। जो शक्ति परस्पर खंडन-मंडन मे लगी वह विभिन्न दृष्टियो के मूल्यांकन मे लगती और दर्शन के व्यवस्थित विकास की परम्परा का सूत्रपात हो जाता।

जागतिक समस्याओ को सुलझाने के प्रयत्न मे प्रत्येक दर्शन भागीदार है। कोई दर्शन किसी एक समस्या को सुलझाने मे सफल हुआ है और कोई दूसरी समस्या को सुलझाने मे। यदि सभी दृष्टियों मे सत्यांश की अनुभूति हो तो मूल्यांकन का दृष्टिकोण स्वस्थ होगा। यदि एक दृष्टि को पूर्ण सत्य मानकर दूसरी दृष्टियो का मूल्यांकन किया जाए तो दृष्टिकोण स्वस्थ नही होगा। जैन दर्शन ने अनेकान्त दर्शन की स्थापना कर सभी दर्शनों को सापेक्ष दृष्टि से देखा और सभी दर्शनो के मध्य वह समन्वय-सेतु बन गया। अहिंसा और मैत्री के विकास का आधार यह समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण ही है। हिंसा की जड विचारो की विप्रतिपत्ति है।

वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसा के रूप मे अभिव्यक्त होती है। शरीर जड है, वाणी भी जड है। जड मे हिंसा-अहिंसा के भाव नहीं होते। इनकी उद्‌भव-भूमि मानसिक चेतना है। उनकी भूमिकाए अनन्त हैं।

प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म है। उनको जानने के लिए अनन्त दृष्टियां हैं। प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है। सब धर्मों का वर्गीकृत रूप अखण्ड वस्तु और सत्यांशो का वर्गीकरण अखण्ड सत्य होता है।

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय मे कही नही जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमें वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू हैं, उतने ही सत्य हैं, जितने सत्य हैं, उतने

ही द्रष्टा के विचार है। जितने विचार हैं उतनी ही अपेक्षाएं है। जितनी अपेक्षाएं हैं, उतने ही कहने के तरीके है। जितने तरीके है, उतने ही मतवाद है। मतवाद एक केन्द्र-बिन्दु है। उसके चारों ओर विवाद-सवाद, सघर्ष-समन्वय, हिंसा और अहिसा की परिक्रमा लगती है। एक से अनेक के सम्बन्ध जुडते हैं, सत्य या असत्य के प्रश्न खडे होने लगते है। बस, यही से विचारो का स्रोत दो धाराओ मे बह चलता है—अनेकान्त या सत्-एकान्त-दृष्टि—अहिंसा, असत्-एकान्त-दृष्टि—हिंसा।

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत, इसकी परख करने के लिए एक दृष्टि की अनेक धाराए चाहिए। वक्ता ने जो शब्द कहा, तब वह किस अवस्था मे था ? उसके आस-पास की परिस्थितिया कैसी थी। उसका शब्द किस शब्दशक्ति से अन्वित था ? विवक्षा मे किसका प्राधान्य था ? उसका उद्देश्य क्या था ? वह किस साध्य को लिये चलता था ? उसकी अन्य निरूपण पद्धतिया कैसी थी ? तत्कालीन सामयिक स्थितिया कैसी थी ? आदि-आदि अनेक छोटे-बडे बाट मिलकर एक-एक शब्द को सत्य की तराजू मे तोलते है।

सत्य जितना उपादेय है उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसे प्रकाश मे लाने का एकमात्र साधन है—शब्द। उसके सहारे सत्य का आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने आप मे सत्य या असत्य कुछ भी नही है। वक्ता की प्रवृत्ति से वह सत्य या असत्य से जुडता है। 'रात' एक शब्द है, वह अपने आप मे सही या झूठ कुछ भी नही। वक्ता अगर रात को रात कहे तो वह शब्द सत्य है और अगर वह दिन को रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति है, तब कैसे कोई व्यक्ति केवल उसी के सहारे सत्य को ग्रहण कर सकता है।

इसलिए भगवान् महावीर ने बताया—"प्रत्येक धर्म (वस्त्वश) को अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्याश के साथ लगे या छिपे अनेक सत्याशो को ठुकराकर कोई उसे पकडना चाहे तो वह सत्याश भी उसके सामने असत्याश बनकर आता है।"

दूसरो के प्रति ही नही किन्तु उनके विचारो के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरो को समझने की भी चेष्टा करो। यही है—अनेकान्तदृष्टि, यही है—अपेक्षावाद और इसी का नाम है—बौद्धिक अहिंसा। इसके विकास मे जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

बाहुबलि : स्वतंत्र चेतना का हस्ताक्षर

श्रवणबेलगोला मे भगवान् बाहुबलि की विशाल प्रतिमा एक प्रश्नचिह्न है और एक अनुत्तरित प्रश्न का समाधान भी है। क्या मनुष्य शरीर इतना विशाल हो सकता है ? हजारो-हजारो वर्ष पहले कोई सौर मण्डल का ऐसा प्रभाव रहा होगा, मनुष्य ने विशाल शरीर पाया होगा। उसकी पुष्टि मे अभी कोई तर्क प्रस्तुत नही करना है। वर्तमान की समस्या का वर्तमान के सदर्भ मे समाधान खोजना है। कभी-कभी बाहरी उपकरण मनुष्य की अतरात्मा का प्रतिनिधित्व करते है। भगवान् बाहुबलि की विशाल प्रतिमा का रहस्य उनकी अन्तरात्मा की विशालता मे खोजा जा सकता है। स्वाभिमान, स्वतत्रता और त्याग की विशालता मे बाहुबलि असाधारण है। यह विशाल प्रतिमा उसी विशाल व्यक्तित्व का एक प्राणवान दर्शन है।

भरत दिग्विजय कर अपनी राजधानी अयोध्या मे पहुचा। सेनापति सुषेण ने कहा—"चक्र आयुधशाला मे प्रवेश नही कर रहा है।" भरत ने जिज्ञासा के स्वर मे कहा—"क्या कोई राजा अभी बचा है, जो अयोध्या के अनुशासन को शिरोधार्य न करे ?" सेनापति बोला—"कोई बचा है इसीलिए चक्र आयुधशाला मे प्रवेश नही कर रहा है।" "कौन बचा है ?" अपनी स्मृति पर दबाव डालते हुए भरत ने कहा। सेनापति फिर भी मौन रहा। भरत को उसका मौन अच्छा नही लगा। उसने झुझलाहट के साथ कहा—"लगता है, तुमसे कुछ छिपा हुआ नही है। तुम सकुचा रहे हो। मौन भग नही कर रहे हो।" सेनापति बोला—"क्या कहू ? समस्या घर की है। पराए सब राजे जीत लिये गए है। कोई बाकी बचा है तो वह अपना ही है।" "क्या बाहुबलि बचा है ?" भरत के मुख से अचानक यह नाम निकल गया। "वह मेरा भाई है। फिर वह कैसे अवरोध पैदा करेगा मेरे चक्रवर्ती होने मे ?" सेनापति ने विनम्र स्वर मे कहा—"सम्राट् ! मै नही कहता, वह अवरोध पैदा करेगा ! यह मैं कह सकता हू, चक्र आयुधशाला मे प्रवेश नही कर रहा है।

उसका कारण बाहुबलि का आपके चक्रवर्तित्व मे विश्वास न होना ही है।"

भरत ने सेनापति से विमर्श कर बाहुबलि के पास अपने दूत को भेजा। दूत तक्षशिला मे पहुंच बाहुबलि के सामने उपस्थित हो गया। बाहुबलि ने भरत का कुशल-क्षेम पूछा। दूत बाहुबलि के तेज से अभिभूत हो गया। वह मौन रहा। कहना चाहते हुए भी कुछ कह नही पाया। बाहुबलि ने उसकी आकृति को पढ़ा। स्वय बोल उठे—"भाई भरत मे और मुझमे आज भी प्रेम और सौहार्द है। पर क्या करे ? हम दोनो के बीच देशान्तर आ गया, जिस प्रकार प्रेम से भीगी हुई आखो के बीच नाक आ जाती है। दूत ! पहले मैं भाई के बिना मुहूर्त्त भर भी नही रह सकता था। किन्तु आज मेरी आखें उसे देखने को प्यासी है। वे उपवास कर रही हैं। उसे देख नही पा रही है। इसलिए ये दिन मेरे व्यर्थ बीत रहे है। मैं उस प्रीति को स्वीकार नही करता जिसमे विरह होता है। यदि हम वियुक्त होकर भी जी रहे हैं तो इसे प्रीति नही, रीति ही समझना चाहिए।" दूत बाहुबलि की बाते सुन पुलकित हो उठा। उसने सोचा—मुझे भरत का सदेश बाहुबलि को देना ही नही पडा। यह भरत से बहुत प्यार करता है। मुझे पूरा विश्वास है कि मुझे अकेला नही लौटना पड़ेगा। मैं बाहुबलि के साथ ही भरत के चरणो में उपस्थित होऊगा। दूत नही जानता था कि प्रेम और स्वतत्रता दोनो अलग-अलग है। बाहुबलि प्रेम करना जानता है, पर स्वतत्रता को बेचना नही। बाहुबलि ने दूत के स्वप्न को भग करते हुए कहा—"दूत ! पिताश्री ने मुझे एक स्वतत्र राज्य सौंपा है, इसलिए मैं अयोध्या जा नही सकता। मेरा हृदय वहा जाने के लिए वैसे ही उत्कठित है, जैसे रात के समय चकवा चकवी से मिलने के लिए उत्कठित रहता है। दूत ! तुम बोलो, मौन क्यो बैठे हो ? भरत ने तुमको किसलिए यहा भेजा है, उसे स्पष्ट करो ?" बाहुबलि की वाणी से दूत मे कुछ प्राण-सचार हुआ। वह साहस बटोरकर बोला—"महाराज ! आपको पता है आपके भाई भरत दिग्विजय कर अयोध्या लौट चुके है। उनकी सभा मे ससार के सभी राजे है। वे सभी सम्राट् के सामने नतमस्तक हैं, सम्राट् की आज्ञा को शिरोधार्य किए हुए हैं। उनकी उपस्थिति मे आपकी अनुपस्थिति सम्राट् को खल रही है। वे चाहते हैं आप उस महापरिषद् मे उपस्थित हो और उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करें।" परामर्श मागे बिना ही दूत अपना परामर्श दे बैठा—"सम्राट् ने जो कहलाया है, उसे मैं भी उचित मानता हू। आपके हित की दृष्टि से कहना चाहता हू कि आप उनकी इच्छा का मूल्याकन करे। आप यह सोचकर निश्चिन्त हैं कि भरत मेरा भाई है, किन्तु ऐसा सोचना उचित नही है। क्योंकि राजाओ के साथ परिचय करना अन्तत. सुखद नही होता। यद्यपि आप बलवान है, फिर भी कहां सार्वभौम सम्राट् भरत और कहा एक देश के अधिपति आप। दीपक कितना भी बड़ा हो, वह एक ही घर को प्रकाशित करता है, सारे जगत् को प्रकाशितकरने

वाला तो सूर्य ही है।"

दूत की वाचालता ने बाहुबलि की शौर्य-ज्वाला को प्रदीप्त कर दिया। वे बोले—"ऋषभ के पुत्रो के लिए राजाओं को जीत लेना कौन-सी बडी बात है? मुझे जीते बिना ही भरत सार्वभौम चक्रवर्ती बनकर दर्प कर रहा है, यह बहुत आश्चर्य की बात है। आज तक मेरे लिए भाई भरत पिता की भाति पूज्य था, किन्तु आज से वह मेरा विरोधी है। वह अपने छोटे भाइयो के राज्यों को हडप-कर भी संतुष्ट नही हुआ। अब मुझ पर अपनी आज्ञा थोपना चाहता है और मेरे राज्य को अपने अधीन करना चाहता है। पर मैं ऐसा नही होने दूगा। मेरे निन्यानबे भाई राज्य को छोड पिता के पास चले गए—मुनि बन गए। वैसे ही मैं भी चला जाऊ? उन्होंने सघर्ष को टालने के लिए वैसा किया, किन्तु मैं ऐसा नहीं कर सकता। मै उनकी भांति सीधा नही, अपना पराक्रम दिखाने के बाद जाऊंगा। दूत! तुम शीघ्र जाओ और भरत से कहो—हम अपनी मर्यादा का लोप न करे। यदि तुमने युद्ध लाद दिया तो मैं पीछे नही रहूगा। जय-पराजय की कथा दुनिया कहेगी। मैं सघर्ष से नही घबराता। मुझे केवल एक ही चिन्ता है कि भगवान् कृष्ण ने सारे ससार को मर्यादा, व्यवस्था और अनुशासन का पाठ पढाया। हम दोनो युद्ध मे उतरेंगे तो लोग क्या कहेगे। इतिहास लिखा जाएगा। भगवान् ने व्यवस्था दी और उनके पुत्रो ने ही सबसे पहले उस व्यवस्था को तोडा। भाई-भाई की लडाई के लिए भरत-बाहुबलि की लडाई उदाहरण बन जाएगी।"

दूत हतप्रभ हो बाहुबलि की उदात्त वाणी को सुनता रहा। वह बाहुबलि से विदा ले भरत के पास पहुच गया। बाहुबलि ने जो कहा, वह भरत को बता दिया।

भरत बाहुबलि से युद्ध करना नही चाहता था। नही क्यो चाहता था, चक्रवर्ती बनने की आकाक्षा है तो वह युद्ध चाहता ही था। भरत ने विजय-यात्रा के लिए प्रयाण कर दिया। बाहुबलि भी रणभूमि मे आ गया। दोनो की सेनाएं आमने सामने डट गई। परस्पर युद्ध हुआ। बारह वर्ष तक चला। मानवीय हित के पक्ष मे सेना का युद्ध स्थगित हो गया। भरत और बाहुबलि दोनो ने परस्पर युद्ध करने का निर्णय लिया। उन्होंने दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध, शब्दयुद्ध और यष्टियुद्ध—ये चार युद्ध निश्चित किए। भरत और बाहुबलि का दृष्टियुद्ध कुछ प्रहरो तक चला। उनकी अग्निमेष आखें एक-दूसरे को घूर रही थी। भीगी हुई पलको के अन्तराल मे ताराए डूब रही थी। भरत की दोनो आखें श्रान्त हो गईं। बाहुबलि वैसे ही एकटक निहारते रहे। भरत पराजित हो गया। मुष्टियुद्ध, शब्दयुद्ध और यष्टियुद्ध मे भी भरत को पराजय मिली। पराजित भरत ने मर्यादा का अतिक्रमण कर बाहुबलि पर चक्र अस्त्र का प्रयोग किया। चक्र बाहुबलि के पास गया। प्रदक्षिणा कर भरत के पास लौट आया। वह आत्मीय जनों पर

प्रहार नही करता। लेजर किरण की गन लाल रंग पर प्रहार नही करती। इस चक्र-प्रयोग की घटना से बाहुबलि का क्रोध सीमा पार कर गया। उन्होने मुट्ठी उठाई और आक्रमण की मुद्रा मे भरत की ओर दौडे। उपस्थित रणमेदिनी ने हाहाकार किया। एक साथ भूमि और आकाश से प्रार्थना का स्वर फूटा—"ऐसा मत करो। बाहुबलि, यदि तुम भी अपने बडे भाई को मारना चाहते हो तो बडे भाई की आज्ञा मानने वाला दूसरा कौन होगा? राजन्! इस क्रोध का सहरण करो। जिस मार्ग पर तुम्हारे पिता चले है, उसी मार्ग का अनुसरण करो।" भरत को क्षमा करो। बाहुबलि का अन्तर्-विवेक जागा। क्रोध को शान्त कर बोले—"मेरा उठा हुआ हाथ खाली नही जा सकता।" अपने हाथ को अपनी ओर मोड़ा। केश का लुचन कर तपस्या के लिए प्रस्थान कर दिया। विजय की वेला मे किया जाने वाला तपस्या की यात्रा का प्रस्थान आदर्श बन गया। स्वतन्त्रता के प्रेम की गाथा अमर हो गई।

त्याग वही कर सकता है, जिसकी चेतना स्वतन्त्र होती है। विजय के क्षण मे क्षमा वही कर सकता है, जिसकी चेतना स्वतन्त्र है। जीते साम्राज्य को वही त्याग सकता है, जिसकी चेतना स्वतन्त्र है। बाहुबलि की विशाल प्रतिमा मे उस विशाल स्वतन्त्र चेतना का दर्शन अलिखित है। हजारो-हजारो लोग उस दर्शन का आकलन करने के लिए उत्सुक है।

भगवान् महावीर की प्रथम ज्योति
भगवान् बाहुबलि

स्वतत्रता मनुष्य की अमिट चाह है। कोई भी मनुष्य किसी की अधीनता को स्वीकार करना नही चाहता। पर इस चाह की एक बाधा है। वह है पराक्रम और शक्ति-सचय। पराक्रमी मनुष्य दूसरो को अधीन बनाना अपना जन्मजात अधिकार मान लेता है। जो शक्ति-सचय कर लेता है, उसकी मान्यता भी ऐसी ही हो जाती है। चक्रवर्ती भरत पराक्रमी थे और दिग्विजय के द्वारा उन्होने शक्ति-सचय भी कर लिया था। उन्होने सैकडो-सैकडो राजो की स्वतत्रता छीन ली। संकल्प किया कि प्रत्येक राजा उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करे, अन्यथा वे दिग्विजय की यात्रा को सपन्न नही करेगे। और सब राजे उनकी शक्ति के सामने नत-मस्तक हो गए। केवल बचे थे निन्यानबे भाई। अट्ठानबे भाई भगवान् ऋषभ के पास दीक्षित हो गए। अब शेष रहे बाहुबलि। भरत ने उन्हे भी निमत्रित किया अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए, पर बाहुबलि स्वतत्रता के सरक्षक थे। परतत्र होने की कल्पना भी उनके मानस मे नही थी। भरत की इस साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से उनके मन को बडा आघात लगा। वे भाई से लडना नही चाहते थे और अपनी स्वतत्रता को खोना किसी भी मूल्य पर उन्हे स्वीकार्य नही था। दोनो विरोधी धाराओ के बीच उन्होने भाई से लडना स्वीकार किया। स्वतत्रता को बलिवेदी पर चढाना उन्हे मान्य नही हुआ।

यदि बाहुबलि भरत की विशाल सेना को देख भयभीत हो जाते तो स्वतत्रता की लौ प्रज्वलित नही रहती। आज भी स्वतत्रता की लौ प्रज्वलित है, उसकी पृष्ठभूमि मे बाहुबलि का अदम्य साहस एक प्रेरक तत्त्व के रूप मे काम कर रहा है। साम्राज्यवादी शक्तियो की सत्ता-लोलुपता के विरुद्ध लडने की उन्होने एक परम्परा डाली थी, उसका अनुगमन आज भी हो रहा है। किन्तु वर्तमान धारा ने

एक नया मोड़ ले लिया। स्वतंत्रता की लडाई लडने वाले विजेता होकर फिर साम्राज्यवादी मनोवृत्ति अपना लेते हैं। सुख-सुविधा, आरामतलबी, ऐश्वर्य, भोग और ठाट-बाट मे साम्राज्यवादी भी उनसे पीछे रह जाते हैं। विचित्र था बाहुबलि का त्याग। अद्‌भुत था उनका सयम। वे विजेता बने। पर सुख-सविधा उन्हे प्रभावित नही कर सकी। सच्चा स्वतत्र वही होता है, जो सत्ता से अभिभूत नही होता। भोग और ऐश्वर्य से पद-दलित नही होता। बाहुबलि ने स्वतत्रता को जो प्रतिष्ठा प्रदान की वह आज भी आदर्श है। उसमे दूसरे व्यक्ति की अधीनता स्वीकार न करने का जितना मूल्य है उतना ही मूल्य है अपनी दुर्बल वृत्तियों की अधीनता के अस्वीकार का।

भगवान् बाहुबलि की स्मृति की बहुत सार्थकता होगी यदि आज का संसार स्वतत्रता के प्रथम मूल्य की भाति द्वितीय मूल्य का भी अकन कर सके।

जयाचार्य : वर्तमान के सन्दर्भ में

राजस्थानी भाषा राष्ट्रीय भाषाओं की सूची मे अभी नही है। फिर भी उसका साहित्य बहुत विशाल है। उसमे अभिव्यक्ति की अद्भुत क्षमता है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा से उसका सीधा सम्बन्ध है। राजस्थानी के हजारो-हजारो शब्दो का मूल प्राकृत मे खोजा जा सकता है। इसकी साहित्यिक श्रीवृद्धि में तेरापंथ धर्मसघ का महत्त्वपूर्ण योग है। आचार्य भिक्षु, जयाचार्य और आचार्य तुलसी तथा अनेक मुनियो ने इस भाषा मे विशाल साहित्य रचा है। जयाचार्य ने साढे तीन लाख श्लोक प्रमाण साहित्य की रचना की। पद्य और गद्य—दोनों मे उन्होने लिखा। उनके कुछ ग्रन्थ विशालकाय हैं। आगमो मे सबसे बडा आगम सूत्र है—भगवती। उसका ग्रन्थमान सोलह हजार माना जाता है। अभयदेव सूरी ने सस्कृत मे उस पर टीका लिखी। उसका ग्रन्थमान अठारह हजार है। जयाचार्य ने उस पर राजस्थानी भाषा मे पद्यमय व्याख्या लिखी। उसका ग्रन्थमान साठ हजार है। उनका दूसरा विशाल ग्रन्थ है—उपदेशरत्नकथाकोष। उसमे लोक-कथाओ के साथ-साथ पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाए भी सकलित हैं। उनका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है—भिक्षु दृष्टान्त। उसमे आचार्य भिक्षु के चार सौ सस्मरण सकलित है। सस्मरण-साहित्य की शृखला मे वह बहुत मूल्यवान है। अंग्रेजी समाचारपत्र 'पॉयनियर' में एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी, उसमे लिखा था—'प्रस्तुत ग्रन्थ विश्व साहित्य मे एक दुर्लभ ग्रन्थ है।'

जयाचार्य के जीवन मे तत्त्व-दर्शन और भक्ति का मणिकाचन योग है। कुछ लोग तत्त्ववेत्ता होते है, भक्त नही होते। कुछ लोग भक्त होते हैं, तत्त्ववेत्ता नही होते। आचार्यवर तत्त्ववेत्ता भी थे और भक्त भी थे। आपने 'झीणीचर्चा', 'झीणो-ज्ञान', 'चर्चारत्नमाला' आदि ग्रन्थो में तत्त्ववाद का बहुसूक्ष्म विश्लेषण किया। आपके भक्तिकाव्य बहुत जनप्रिय हैं। आपकी एक प्रसिद्ध कृति है—चौबीसी। उसमे चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है। हजारो-हजारों लोग प्रातःकाल उसका पाठ

करते है। जब उसका विभिन्न लयों मे सगान होता है, तब पूरा वातावरण भक्तिमय बन जाता है। आचार्य भिक्षु जयाचार्य के इष्ट थे। उनके जीवन मे जब कभी कोई कठिनाई आयी तब उन्होने आचार्य भिक्षु की स्तुतिया रची। उनकी 'विघ्नहरण की ढाल' बहुत प्रसिद्ध है। शारीरिक, मानसिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विघ्नो के उपस्थित होने पर उसका स्मरण आज भी बडी श्रद्धा के साथ किया जाता है।

आचार्यवर मत्रविद् थे। उनका इष्ट मत्र था—'अ सि आ उ सा', 'अ भि रा शि को' और चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्र की दूसरी गाथा।

वे ज्योतिर्विद् थे। सूर्यप्रज्ञप्ति खगोल विषयक सूत्र है। उन्होने उसकी व्याख्या लिखनी शुरू की। सौ वर्ष का पचाग बनाना प्रारम्भ किया। किन्तु कुछ व्यक्तियो का परामर्श मानकर उन्होने उस कार्य को स्थगित कर दिया।

उन्होने अनेक विधाओ मे साहित्य लिखा। अनुशासन, मानसिक चिकित्सा, व्यवस्था, समतावाद, विनम्रता, मानव प्रकृति का विश्लेषण—ये उनके साहित्य के मुख्य प्रतिपाद्य रहे है। प्राकृतिक घटना और परिस्थिति पर भी उनकी लेखनी चलती रही। एक बार की घटना है, वे सुजानगढ मे विराज रहे थे। नीचे रास्ते मे दो कुत्ते आपस मे लड रहे थे। दोनो आक्रमण की मुद्रा बनाए बहुत जोर-जोर से भौंक रहे थे। आसपास की शान्ति भग हो रही थी। उस समय जयाचार्य का कवि-पुरुष बोल उठा—

नहीं ज्ञान अरु ध्यान, काम-काज पिण को नहीं।
ते कूकर सम जाण, फिरै चरै कलहो करै॥

एक दूसरा प्रसग है। जयाचार्य पदयात्रा कर रहे थे। गर्मी का मौसम। राजस्थान की गर्मी। सूर्य का परम अनुग्रह। रेतीले टीले। सौर-ऊर्जा का उपयुक्त क्षेत्र। धरती ही नही, आदमी भी तप उठता है। चारो ओर धूप ही धूप। आवश्यकता हुई विश्राम की। छाह की खोज शुरू हुई। जहा दृष्टि जाए, वहा धूली ही धूली। धूली का एकछत्र साम्राज्य। वृक्ष का दर्शन सत्य की भाति दुर्लभ है। बहुत खोजने पर भी दिखाई नही देता। पर वह असफल नही होता जो निरतर खोज मे सलग्न होता है। आखिर एक वृक्ष दृष्टिगोचर हुआ। वह थी खेजडी। राजस्थान का कल्पतरु। वह साग के लिए सागरी देता है, बच्चो को खाने के लिए मीठे-मीठे 'खोखा' देता है और उसकी छोटी-छोटी पत्तिया धूप से तपे हुए राही को छाह देती है। खेजडी के नीचे बैठने वाला छाह का मूल्य जानता है। कल्पतरु के नीचे बैठने वाला छाह का मूल्य नही जान पाता। जहा धूप नही, वहा छाह का मूल्य कैसे आका जा सकता है? जयाचार्य ने खेजडी के नीचे विश्राम किया। उन्होने छाह की सुखद अनुभूति का एक दोहे मे चित्रण किया—

छोटी सी इक खेजड़ी, गहरी ठडी छांह ।
जीत आदि मुनि संचर्या, विश्रामो तिहां पाय ।।

जयाचार्य का जीवन रसहीन नही था। उनके जीवन में विनोद के दर्शन होते हैं और उसके पीछे दिखाई दे रहे हैं ये सब—प्रसन्नता, सामंजस्य और प्रेरणा। ऋषिराय जयाचार्य के गुरु थे। उनका शरीर स्वस्थ था। उन्हे तैलमर्दन से बडी अरुचि थी। कोई साधु कारणवश तैल-मर्दन करता, वह उन्हे अच्छा नही लगता। सवत् १६०३ मे वे चातुर्मास-प्रवास जयपुर मे कर रहे थे। एक दिन घोडे ने टक्कर लगाई। हाथ की हड्डी उतर गई। चातुर्मास सपन्न होने पर भी विहार नही हो सका। चैत्रमास तक वही रुकना पडा। पुराने जमाने मे अस्थि-पीडा मे तैल-मर्दन एक मुख्य उपचार था। उसका प्रयोग चल रहा था। चातुर्मास सपन्न होने पर साधु-साध्वियो ने आचार्यप्रवर के दर्शन किए। जयाचार्य उस समय युवाचार्य अवस्था मे थे। उन्होने भी आचार्यवर के दर्शन किए। ऋषिराय तैल-मर्दन कर रहे थे। जयाचार्य ने वह देखा और तत्काल विनोद की भाषा मे बोले .

कोई तेल लगाई आवतो, करता तिण स्यू तर्क ।
इक दिन इसडो आवियो, गुरु रहै तेल मे गर्क ।।

ग्रहणशील व्यक्तित्व

व्यक्तित्व के विकास मे सबसे बडी बाधा है—अहकार। वह अच्छाइयो को स्वीकारने मे बाधा डालता रहता है। जयाचार्य बहुत विनम्र थे। उन्होने जहा कही अच्छाई देखी, वही से उसे लेने का प्रयत्न किया। उन्हे सस्कृत का विद्यादान मिला था एक विद्यार्थी से। दिन मे वह सस्कृत पढता था। रात के समय अपना पढा हुआ पाठ आचार्यवर को सुना देता था। ढोली और लोकगीतों के गायको से उन्होने रागिनिया सीखी। उनकी गीतिकाओ मे सैकडो लोकगीतो और रागिनियो का प्रयोग मिलता है। उनके विद्यागुरु थे मुनि हेमराजजी। उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करते हुए आचार्यवर ने लिखा—मुनिवर ! मैं बिन्दु था। आपने मुझे सिन्धु बना दिया।

सम्प्रदायातीत धर्म के प्रवक्ता

सम्प्रदायातीत धर्म के मंत्रदाता थे भगवान् महावीर। उस मत्र का आचार्य भिक्षु ने पुनरुच्चारण किया। जयाचार्य ने उस घोष को प्राणवान बनाया। वे सम्प्रदायातीत धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे। अब उनके सामने अनेक प्रश्न उपस्थित हुए। प्रत्येक सम्प्रदाय के पास अपने सम्प्रदाय से भिन्न लोगो के लिए एक शब्दावली गढी हुई है। उसके शब्द हैं—नास्तिक, मिथ्यादृष्टि, अधर्मी,

काफिर आदि-आदि। एक भाई ने पूछा—आप मिथ्यादृष्टि के आचरण को धर्म कैसे बतलाते हैं? उसे मोक्ष का हेतु कैसे बतलाते हैं? आचार्यवर ने कहा—शील, सतोष, दया और क्षमा—ये मोक्ष के हेतु हैं। भाई बोला—ये गुण अच्छे हैं, पर मिथ्यादृष्टि के हैं, इसलिए अच्छे नही है। खीर अच्छी होती है, पर भगी की खीर कौन खाना चाहेगा? आचार्यवर ने कहा—भगी की खीर मत कहो। यह भगी का रुपया है, जो कही भी नही अटकता। सब लोग उसे स्वीकार कर लेते है। प्रश्न पूछने वाला था दिल्ली का एक नागरिक कृष्णचन्द्र माहेश्वरी। आचार्यवर का उत्तर उसके अन्त करण मे पैठ गया। धर्म सप्रदाय से परे है, यह विश्वास पैदा हो गया।

जयाचार्य योगी थे। उन्होने ध्यान के विषय मे केवल ग्रन्थ ही नही लिखे, किन्तु ध्यान की गहराइयो मे डुबकिया भी लगाई थी। हमारा व्यक्तित्व रगो से बहुत प्रभावित होता है। रग की पसद और नापसद के आधार पर पूरे व्यक्तित्व की व्याख्या की जा सकती है। प्रेक्षा ध्यान की प्रणाली मे अनेक प्रयोग हैं। उनमे एक प्रयोग है—रग-ध्यान का। पारिभाषिक शब्दावली मे उसे लेश्याध्यान कहा जाता है। पश्चिमी जगत् मे रगध्यान पर बहुत कार्य हो रहा है। कलर-थेरापी और कलर-मेडिटेशन—इन विषयो पर काफी साहित्य लिखा जा रहा है। जयाचार्य ने रग-ध्यान के विषय मे कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाए दी है। वे आज के इस बहुचर्चित विषय मे बहुत मूल्यवान् है।

बहुआयामी व्यक्तित्व की अनेक दिशाओ मे चैतन्य की ज्योति को प्रज्वलित और मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करने वाले उस प्रज्ञापुरुष के प्रति विनम्र वदना।

अनुशासन के मंत्रदाता : जयाचार्य

जयाचार्य की निर्वाण शताब्दी 'अनुशासन वर्ष' के रूप मे मनाई जा रही है। वे पहले स्वय शासित और फिर अनुशास्ता थे। यह उनके जीवन का सूत्र अध्यात्म का सूत्र है। वर्तमान चेतना को इस सूत्र की बहुत अपेक्षा है। इसलिए आचार्यश्री तुलसी ने अनुशासन वर्ष का घोष दिया है—'निज पर शासन, फिर अनुशासन'—पहले अपने मन पर, अपनी इच्छाओ और वृत्तियो पर शासन करो, फिर दूसरो पर अनुशासन करना। महामात्य कौटिल्य ने राजा के लिए इन्दियजयी होना आवश्यक बतलाया है। उनका चिन्तन था कि यदि शासक इन्दियजयी नही होता है तो वह प्रजा के लिए राहु-केतु बन जाता है। सभी दिशाओ से एक स्वर गूजता है—अनुशासनहीनता बढ रही है, अनैतिकता बढ रही है, समाज का क्या होगा ? राष्ट्र का क्या होगा ? समस्या का चित्रण करने से समस्या का समाधान नही होता। उसके लिए उपाय खोजना जरूरी होता है। शिक्षा एक उपाय है अनुशासन को लाने का, पर वह स्वय दलीय राजनीति के दलदल मे फंसी हुई है। रेडियो, टेलीविजन और समाचारपत्र—ये सब विचार-परिवर्तन के माध्यम है। पर ये भी क्या करे ? इनका काम है घटनाओ को प्रसारित करना। जब घटनाए ही हिंसा, आक्रमण, उपद्रव, बलात्कार और लूट-खसोट की होती हैं, तो उन्हे प्रसारित किए बिना ये कैसे रह सकते है ? इन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्तिया मनुष्य को अनुशासनहीन बनाए बिना कैसे रह सकती है ? अनुशासनहीनता का एक चक्र है। पूरा समाज उसकी पकड मे है।

जयाचार्य आचार्य भिक्षु के भाष्यकार थे। आचार्य भिक्षु ने साधन-शुद्धि पर बहुत विचार किया था। हिन्दुस्तान के दो हजार वर्ष के दार्शनिक इतिहास मे दो ही व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिन्होने साधन-शुद्धि पर अधिक विचार किया—एक आचार्य भिक्षु और दूसरे महात्मा गाधी। साधन-शुद्धि का सिद्धान्त हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त है। जयाचार्य ने हृदय-परिवर्तन पर बहुत बल दिया। उन्होने कहा—

हृदय को बदले बिना अनुशासन का विकास नही हो सकता। हृदय-परिवर्तन की बात सुनने मे बहुत मीठी लगती है। पर क्या यह स्वय एक उलझन नही है ? क्या हृदय बदल सकता है ? मनुष्य के स्वभाव को बदलना सबसे कठिन बात है। इसीलिए यह मान्यता बन गई है कि स्वभाव को नही बदला जा सकता।

हृदय-परिवर्तन अनुशासन को विकसित करने का एक उपाय है। हम निरुपाय नही है, यह प्रसन्नता की बात है। पर वह कैसे हो सकता है, इसे वैज्ञानिक भाषा मे समझना जरूरी है। वैज्ञानिक शब्दावली मे हृदय-परिवर्तन का अर्थ है—जैविक रसायनो का परिवर्तन। ये रसायन हमारे व्यवहार और आचरण को नियत्रित करते है। इन्हे बदले बिना अनुशासनहीनता की समस्या को नही सुलझाया जा सकता। श्वेत अश्वेतो पर आक्रमण कर रहे है। सवर्ण असवर्ण जातियो से घृणा कर रहे हैं। कभी जातीयता समस्या बनकर उभरती है, तो कभी साम्प्रदायिकता। ये सब अनुशासनहीनता की चिनगारिया है, जो समय-समय पर उछलती रहती है। पूरा समाज इनकी लपेट मे ताप और सताप का अनुभव करता है। क्या ये जातीय और साम्प्रदायिक उपद्रव अनुशासनहीनता के कारण हो रहे है ? गहरे चिन्तन के बाद इन्हे अनुशासनहीनता का कारण नही माना जा सकता। ये सब अनुशासनबद्धता के कारण हो रहे है। जाति या नस्ल के नाम पर एक अनुशासन चल रहा है। उससे अनुशासित लोग जातीय उपद्रव कर रहे है। सम्प्रदायो का भी अपना अनुशासन है। कुछ सम्प्रदाय उपद्रवो को अनावश्यक नही मानते। इसीलिए साम्प्रदायिक उपद्रव फैलते है। सही अर्थ मे आदमी अनुशासनहीन नही है। उसका व्यवहार और आचरण किसी न किसी अनुशासन से प्रतिबद्ध है। यह अलग प्रश्न है कि आज जो अनुशासन की माग है, उसकी भाषा क्या है, उसका अर्थ क्या है, उसके पीछे चिन्तन क्या है ?

अनुशासन का एक अर्थ है—दूसरो के आदेश का स्वीकार और अनुपालन। उसका दूसरा अर्थ है—दायित्व-बोध। पहला अर्थ बहुत विवादास्पद है। उसी का आदेश मान्य हो सकता है जिसमे क्षमता, समता और ममता की त्रयी विद्यमान हो। कोई बडा-बूढा है और मुखिया बना हुआ है, इसीलिए उसका आदेश उचित है, यह प्रश्न बहुत प्रबुद्ध मानस को झकझोरे बिना नही रहता। पहले अर्थ मे यदि अनुशासन की माग है तो वह केवल पुरानी पीढी की माग है। वह नयी पीढी की माग नही हो सकती। अनुशासन की माग पुरानी और नयी—दोनो पीढियो की समस्वर से होनी चाहिए। अनुशासन पुरानी पीढी के लिए भी जरूरी है और नयी पीढी के लिए भी जरूरी है। यह अपने-अपने लिए जरूरी है, एक-दूसरे के लिए जरूरी नही है।

जयाचार्य ने इस सचाई पर बहुत बल दिया कि जिसे अनुशासन की प्रतिष्ठा करनी हो, उसे स्वय अनुशासित होना चाहिए। आदमी कहने से जितना नहीं

सीखता उतना व्यवहार और आचरण से सीखता है। बडे-बूढों का आचरण और व्यवहार यदि अनुशासित होता है तो नयी पीढी को अनुशासन की प्रेरणा देने की बहुत आवश्यकता नही है। वह उसे स्वय सीख जाती है। किन्तु आश्चर्य है कि जो स्वयं अनुशासन से दूर रहकर बच्चों मे अनुशासन लाना चाहते है वे इस सचाई को भूल जाते हैं कि बच्चे तुम्हारी बात कम मानेंगे, तुम्हारे व्यवहार को ज्यादा मानेगे। जयाचार्य की दृष्टि मे अनुशासन वही कर सकता है—

जो समय पर मौन रहना जानता है और समय पर बोलना जानता है।

जो क्षमा करना भी जानता है और आख दिखाना भी जानता है।

सभ्य और प्रगतिशील समाज के दो लक्षण होते है—अनुशासन और विनम्रता। क्रोध और अहकार—ये मानवीय प्रकृति के स्वाभाविक गुण है। ये उच्छृखल होते हैं, तब अनुशासन और विनम्रता का विकास होता है। सही अर्थ मे अनुशासन का अर्थ है—अपने-अपने क्रोध और अहकार का परिष्कार करना। जयाचार्य स्वय बहुत विनम्र थे। कृतज्ञता और गुणग्राहिता का भाव उनमे कूट-कूट कर भरा हुआ था। उन्होने अपने विद्यागुरु के प्रति जो विनम्र व्यवहार किया, उसे आदर्श माना जा सकता है। उन्होने कहा—मैं एक बिन्दु था, किन्तु मेरे विद्यागुरु ने मुझे सिन्धु बना दिया।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन की परम्परा का सूत्रपात किया था। जयाचार्य इसी परम्परा मे पले-पुसे थे। अनुशासन उन्हे विरासत मे मिला था। आचार्य ऋषिराय उनके गुरु थे। वे बहुत ऋजुमना और मृदु प्रकृति के थे, किन्तु अनुशासन के क्षेत्र मे बहुत दृढ थे। एक मुनि को वस्त्र की सिलाई करनी थी। वह गृहस्थ के घर से सूई ले आया। सूई लाए या धागा लाए या और कुछ भी लाए, व्यवस्था है कि आचार्य या अग्रणी की आज्ञा लेकर लाए। वह मुनि आज्ञा लिये बिना सूई ले आया। ऋषिराय को पता चला। उन्होने पूछा—तुम आज्ञा लिये बिना सूई कैसे ले आए? वह बोला—सूई के लिए क्या आज्ञा लेनी थी? आचार्यवर ने कहा—प्रश्न सूई और चाकू का नही है, प्रश्न आज्ञा का है। सूई छोटी हो सकती है पर अनुशासन का भग छोटा नही होता, यह कहते हुए आचार्यवर ने उसका सघ से सबध-विच्छेद कर दिया। जयाचार्य इस घटना के साक्षी थे। ये अनुशासन का बहुत सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करते रहते थे। अनुशासन के तटबध मे एक छोटा-सा छिद्र बडा रूप ले सकता है और तटबध को तोड सकता है, इस सचाई से वे परिचित थे। तेरापथ के द्वितीय आचार्य भारमलजी स्वामी ने अपने उत्तराधिकार का पत्र लिखा। उसमे उन्होने दो नाम लिख दिए—खेतसी तथा रायचन्द। जयाचार्य इस समय सत्रह वर्ष की अवस्था मे थे। एक तरुण मुनि के रूप मे अपना अध्ययन और साधना कर रहे थे। उन्हे इस बात का पता चला। वे आचार्य भारमलजी के पास गए। वदना कर, बद्धांजलि हो, विनम्र स्वर मे बोले—

गुरुदेव! आपने आचार्यपद के लिए दो नाम लिखे हैं। इस पर आप पुनर्विचार करें। ये दो नाम अनुशासन और व्यवस्था के लिए उलझन पैदा कर सकते हैं। आचार्य ने सहज-सरल भाव से उत्तर दिया—जीतमल! खेतसी मामा है और रायचन्द उसका भानजा। इसलिए कोई उलझन पैदा नही होगी। मुनि जीतमल ने प्रार्थना की—मामा-भानजा या पिता-पुत्र कोई भी हों, जहां दो होंगे वहा उलझन की सभावना होगी। इसलिए आचार्यपद के लिए एक ही नाम का उल्लेख होना चाहिए। आचार्यवर ने तरुण मुनि का सुझाव स्वीकार कर लिया और मुनि खेतसीजी का नाम वहा से हटा दिया।

जयाचार्य ने अनुभव किया कि सविभाग और समतापूर्ण व्यवहार के बिना अनुशासन को चिरजीवी नही बनाया जा सकता। विषमतापूर्ण व्यवहार मनुष्य को अनुशासनहीन बनाता है। उन्होने साधु-सस्था मे सविभाग और समतापूर्ण व्यवस्था के धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। किसी साम्यवादी जीवन-प्रणाली मे भी इतनी सविभाग और समतापूर्ण व्यवस्था नही है, जितनी तेरापथ की साधु-सस्था मे है।

एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा—तेरापथ धर्मसघ कब तक चलेगा? उन्होने उत्तर मे कहा—पदार्थ के प्रति मूर्च्छा नही बढेगी, आचारनिष्ठा और सत्यनिष्ठा बनी रहेगी तथा आचार्य और साधु अनुशासन के प्रति जागरूक रहेगे, तब तक यह धर्मसघ चलेगा।

अनुशासन को सघीय जीवन का आधार नही कहा जा सकता, किन्तु निश्चित ही वह सुरक्षा-कवच है। चरित्रहीन अनुशासन श्मशान के दीप की भाति प्रकाश देता है, साथ-साथ मे भय भी पैदा करता है। चरित्र-सपन्न अनुशासन मन्दिर के दीप की भाति प्रकाश और पवित्रता—दोनो का विकिरण करता है।

अनुशासन की समस्या

चित्त एकाग्र नही होता। यह समस्या किसी एक व्यक्ति की नही, हजारों-हजारो व्यक्तियो की है। किन्तु एकाग्र क्यो नही होता—यह प्रश्न किसी एक के द्वारा नही, हजारों-हजारो के द्वारा पूछा जाता है। किन्तु यह समस्या समाधान से परे नही है। और यह प्रश्न अनुत्तरित नही है। इस समस्या का समाधान है अप्रतिबद्धता और इस प्रश्न का उत्तर भी यही है। मनुष्य जीवन के हर क्षेत्र मे प्रतिबद्ध (Committed) है। परिवार, सामाजिक वातावरण—यह बाहरी प्रतिबद्धता है। विचार और सस्कार—यह आन्तरिक प्रतिबद्धता है। प्रतिबद्ध व्यक्ति अकेला नही हो सकता और जो अकेला नही होता, वह एकाग्रचित्त भी नही हो सकता। समस्या एकाग्रता की नही है। समस्या है प्रतिबद्धता की। मनुष्य बड़ा विचित्र है। वह प्रतिबद्धता को छोडना नहीं चाहता और एकाग्रता को चाहता है। इस विसगति का कोई समाधान नही हो सकता। क्या सामाजिक जीवन मे अप्रतिबद्ध होकर जीना सभव है? सहज ही यह पूछा जा सकता है। कोई भी सामाजिक प्राणी अकेला होकर जी नही सकता। इसलिए शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रतिबद्ध होना आवश्यक है। मनुष्य चेतना के स्तर पर अप्रतिबद्ध हो सकता है और अकेला भी उसी स्तर पर हो सकता है। चित्त की एकाग्रता का आधार-बिन्दु भी यही है। यही है समर्पण। यही है अनुशासन। सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र मे अनुशासन नियत्रण मे खोजा जाता है। केवल समाज-व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न किया जाता है। वह प्रयत्न तानाशाह को जन्म देने का प्रयत्न है। उससे जनता और अधिक सताप भोगती है। जैसे-जैसे नियत्रण की पकड मजबूत होती है, वह परतत्र बनती जाती है। अध्यात्म के क्षेत्र मे अनुशासन का आधार है व्यक्ति की आन्तरिक चेतना को बदलना। उसके बिना कोई भी परिवर्तन सफल नही हो सकता। आध्यात्मिक आस्था है कि हर व्यक्ति मे बदलने की क्षमता है और उपयुक्त सामग्री उपलब्ध होने पर वह बदल सकता है, चेतना

का रूपान्तरण कर सकता है। जैसे-जैसे विचारो और सस्कारों की प्रतिबद्धता कम होती है, वैसे-वैसे व्यक्ति समर्पित होता जाता है। यह समर्पण की प्रक्रिया ही अनुशासन के विकास की प्रक्रिया है। जो जिसके प्रति समर्पित है, वह कभी उसकी मर्यादा का अतिक्रमण नही करता। मनुष्य मे सत्य की आस्था को जगाया जा सके तो अनुशासन के लिए स्वतत्र प्रयत्न आवश्यक नही होता। सत्य के सूत्र से बधा हुआ व्यक्ति स्वय अनुशासित हो जाता है। आत्मानुशासन का अर्थ है—सत्य का अनुशासन। इस अनुशासन को जीवन के अनेक स्तरो पर रूपायित किया जा सकता है—

१ आत्मानुशासन का अर्थ है—प्राणशक्ति का सतुलन।
२ आत्मानुशासन का अर्थ है—जैविक रसायनो का परिवर्तन।
३ आत्मानुशासन का अर्थ है—शरीरबल, मनोबल और बुद्धिबल का सतुलन।
४ आत्मानुशासन का अर्थ है—प्रियता और अप्रियता से मुक्त क्षण मे जीने का अभ्यास।
५ आत्मानुशासन का अर्थ है—अपने भीतर हो रहे परिवर्तनो का अनुभव।

क्या अनुशासन की यह प्रक्रिया सामाजिक बन सकती है? वैयक्तिक प्रक्रिया से कुछेक व्यक्ति लाभान्वित हो सकते है। पूरे समाज का रूपान्तरण नही हो सकता। आज ऐसी प्रक्रिया की खोज है, जो पूरे समाज मे अनुशासन को प्रतिष्ठित कर सके। इस प्रश्न के उत्तर मे बहुत सीधा-सा मार्ग प्रस्तुत है-—बौद्धिक विकास के लिए शैक्षणिक विकास सामाजिक बन सकता है, तब मानसिक प्रशिक्षण सामाजिक क्यो नही बन सकता। अनुशासन एक मानसिक प्रशिक्षण है। हम मन को प्रशिक्षण दिए बिना ही उसे अनुशासित रखना चाहते है। यह अद्‌भुत आशा है। ऐसी आशा कि जिसकी पूर्ति कभी सम्भव नही है। अनुशासन के विकास का प्रयत्न असम्भव को सम्भव बनाने का प्रयत्न नही है। हम सम्भव को असम्भव माने हुए है। उस मान्यता को तोडने का प्रश्न है। उस मान्यता का टूटना व्यक्ति और समाज दोनो के लिए श्रेयस्कर है।

मूल का सिंचन

फूल स्वय बता रहे है कि उसकी सुन्दरता का कारण है मूल का सिचन। जिसने मूल को सीचा उसने सारे जगत् को सुन्दर बनाया। जो मूल को नही सीच पाया, पत्तो तक ही उलझ गया, वह कभी सुन्दरता को पैदा नही कर सका। अभी हमने सुना कि अनुशासन की समस्या है। मैं कहता हू कि सबसे बडी समस्या यह है कि हम समस्या के मूल मे जाने की चेष्टा नही करते है। समस्या के मूल को पहचानने की चेष्टा नही करते हैं। मूल के सिचन की बात कम सोचते है। केवल फूलो को सवारना चाहते है, पत्तो को सवारना चाहते है। कभी ऐसा नही हुआ कि फूलो और पत्तो को सीचने से फूल हरे-भरे हुए हो। जड को सीचा जाता है, तभी सुन्दरता आती है।

समस्या बाहर नही, भीतर है

हम समस्या का समाधान हमेशा बाहर मे खोजते है। इस एकागी दृष्टिकोण के कारण सारी समस्याए उलझती जा रही हैं। जबकि समस्या का उपादान हमारे भीतर मे है। हम समाधान बाहर से कैसे प्राप्त कर सकते है? सबसे पहले हमे अपनी वृत्ति बदलनी होगी। जब तक हमारी वृत्ति नही बदलेगी तब तक हमारा व्यवहार नही बदल सकता है, हमारा आचरण नही बदल सकता। सबसे पहले दृष्टिकोण को बदलने की जरूरत है। हमारी दृष्टि बदलनी बहुत अपेक्षित है।

आख का एक रोगी डॉक्टर के पास आया। चश्मा लेना था। डॉक्टर ने रोगी से कहा—सामने देखो। क्या लिखा है? उसे पढ़ो। रोगी ने पूछा—कहा लिखा है? डॉक्टर ने कहा—पट्ट पर लिखा है। रोगी ने कहा—पट्ट कहा है? डॉक्टर ने कहा—सामने भीत पर है। रोगी ने फिर पूछा—भीत कहां है? डॉक्टर ने कहा—चले जाओ। जिसकी दृष्टि इतनी खराब हो गई है कि उसे भीत भी दिखाई नही देती, उसकी आख का इलाज कैसे किया जा सकता है?

आवेगो पर नियन्त्रण

जब तक अनुशासन के प्रति हमारा दृष्टिकोण सही नही होता है, तब तक अनुशासन की स्थापना नही हो सकती है। दृष्टि बदलने के साथ-साथ दो बातें और अपेक्षित हैं। एक आवेगो पर अनुशासन और दूसरा इन्द्रियो पर अनुशासन। हम अनुशासन को लाना चाहते है किन्तु स्वय पर अनुशासन नही होता, स्वय के कार्यों पर अनुशासन नही होता। जब तक हमारा स्वय पर अनुशासन नही होगा, तब तक बात बनेगी नही। हर व्यक्ति मे आवेग होता है, क्रोध होता है, अहकार होता है। जब तक हमारा इन पर नियन्त्रण नही होगा, तब तक अनुशासन की बात नही सोची जा सकती। आवेग दोनो प्रकार के होते है। प्रियता का भी होता है और अप्रियता का भी होता है। दोनो पर हमारा नियत्रण होना चाहिए।

मैं आप लोगो के सामने एक सच्ची घटना प्रस्तुत कर रहा हू। एक गरीब व्यक्ति ने लाटरी का टिकट खरीदा। सयोग की बात कि वह लाटरी मे पाच लाख रुपए जीत गया। अब अधिकारियो के सामने चिन्ता हुई कि उस गरीब आदमी को पाच लाख रुपए जीतने की सूचना कैसे दी जाए? अचानक पाच लाख जीतने की खुशी मे उसका हार्ट फेल हो सकता है। एक डॉक्टर ने कहा कि मुझे यह कार्य सौप दीजिए। मैं बहुत अच्छी तरह समझाकर सूचना दे दूगा।

डॉक्टर ने जाकर उस गरीब आदमी को नमस्कार किया। गरीब आदमी ने सोचा कि इतना बडा आदमी आज उसे कैसे नमस्कार कर रहा है? उसने पूछा—'आप कौन है?' उत्तर मिला, 'डॉक्टर हू।' 'आप कैसे आए है?' उत्तर मिला, 'वैसे ही आपसे मिलने आ गया हू।' इधर-उधर की बातें होने के बाद डॉक्टर ने कहा—'यदि आपको बीस हजार रुपए मिल जाए तो आप क्या करेगे?' उसने कहा—'ऐसा कहा सम्भव है? हम गरीब आदमी है। बीस रुपये के लिए भी तरसते हैं।' डॉक्टर ने कहा—'मान लीजिए कि मिल गए तो आप क्या करेंगे।' उसने कहा—'दस हजार रुपए आपको दे दूगा।' डॉक्टर ने फिर पूछा—'यदि एक लाख मिल जाए तो?' गरीब ने कहा—'ऐसा कहा सम्भव है? फिर भी यदि मिल जाए तो आधे रुपए अर्थात् पचास हजार आपको दे दूगा।' डॉक्टर ने फिर पूछा—'यदि आपको पाच लाख मिल जाए तो?' उस गरीब आदमी ने कहा—'ढाई लाख रुपए आपको दे दूगा।' डॉक्टर ने कहा—'अरे, ढाई लाख रुपए मुझे दे दोगे', और इतना कहते ही डॉक्टर का हार्ट फेल हो गया। जो दूसरे को समझाने के लिए गया था, वह स्वय चल बसा।

जब तक हमारा इन्द्रियो पर अनुशासन नही होगा, तब तक हम अच्छा काम नही कर सकेंगे। किन्तु प्रश्न होता है कि होगा कैसे? क्या कहने से हो जाएगा

अनुशासन, क्या उपदेश से हो जाएगा अनुशासन ? मैं ऐसा नही मानता हूं। यह सम्भव नहीं है। कहने मात्र से अनुशासन हो जाता तो आज हर धर्म का आदमी अनुशासित होता। किन्तु धर्म को मानने वाले लोग भी अनुशासित नहीं हैं। क्योंकि कोरा उपदेश कभी जीवन मे अनुशासन नही ला सकता।

धार्मिक . अधार्मिक

हमे प्रयोग करना होगा। आचार्यश्री तुलसी ने इस सारी समस्या को ध्यान मे रखकर ही अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत का उद्देश्य है कि मनुष्य की सकल्प-शक्ति जागे। धर्म प्रायोगिक बने। धर्म कोरे उपदेश के साथ न रहे। कोरे उपदेश से न धर्म का भला होगा, न धार्मिक का भला होगा। आज तो स्थिति यह है कि एक धार्मिक और अधार्मिक के बीच कोई रेखा ही दिखाई नही पडती। आज धार्मिक और नास्तिक के बीच कोई लक्ष्मणरेखा दिखाई नही पडती। जो कार्य एक अधार्मिक कर रहा है, वही कार्य एक धार्मिक भी कर रहा है। जो भ्रष्टाचार, बेईमानी एक नास्तिक कर रहा है, वही आस्तिक भी कर रहा है। अगर कोई अन्तर है तो वह इतना ही है कि नास्तिक या अधार्मिक को साय-काल कोई प्रार्थना करने की जरूरत नही होती। धार्मिक आदमी बेईमानी भी करता जाता है और साथ मे प्रार्थना भी करता जाता है। वह प्रायश्चित्त या प्रार्थना बुराई छोडने के लिए नही करता बल्कि और अधिक करने के लिए करता है।

प्रेक्षा ध्यान के द्वारा परिवर्तन

बात है बदलने की। अणुव्रत आदोलन ने एक नया प्रयोग और किया प्रेक्षा-ध्यान का। हमने देखा कि आदमी बुराई करता है किन्तु केवल परिस्थितियो के कारण ही नही करता। ऐसा तो केवल मान लिया गया है कि जैसी परिस्थिति होती है, आदमी वैसा बन जाता है। जब हम गहराई मे उतरकर देखते हैं तो इस सिद्धान्त मे कोई सचाई नही लगती। मैं मानता हू कि परिस्थिति भी एक निमित्त बनती है, वातावरण भी एक निमित्त बनता है। हम निमित्त को तो पकड लेते हैं, किन्तु मूल बात को छोड देते है। मूल बात यह है कि हमारे व्यवहार और आचरण वैसे होते है, जैसे हमारे भीतर के रसायन होते है। आज की वैज्ञानिक खोजों से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि मनुष्य का व्यवहार और आचरण वैसा होता है, जैसा व्यक्ति का स्राव होता है। जैसा व्यक्ति का स्राव होता है, वैसा ही उसका आचरण होता है।

भीतरी रसायनो मे परिवर्तन

मैं आप लोगो से बहुत विश्वास के साथ कहना चाहता हू कि चाहे हजार

बार हमारे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम मे परिवर्तन कर दिया जाए, कितने ही शिक्षा के आयोग स्थापित हो जाए, कितने ही धर्म-स्थानो के धर्मगुरु एकत्रित हो जाए, कितने ही राजनैतिक मच अनुशासन लाने का प्रयास करें, किन्तु जब तक हमारे रसायन नही बदलेंगे, तब तक कोई भी परिवर्तन सम्भव नहीं है। रसायनो के परिवर्तन के बिना अनुशासन आ सके, इसकी कतई सम्भावना नही है। हम वैज्ञानिक दृष्टि से सोचे कि हमारे व्यवहार का नियत्रण कौन कर रहा है ? पहले यह माना जाता था कि सारा नियत्रण मस्तिष्क के द्वारा होता है और उसे प्रधानता दी गई। हमारी शिक्षा मे मूल आधार मान लिया कि मस्तिष्क का विकास, बुद्धि का विकास करना चाहिए। किन्तु आज तो बात बहुत साफ हो गई है कि कोरा बुद्धि का विकास ही पर्याप्त नही है। हमारी शिक्षा का काम है बुद्धि को प्रखर बना देना। पर आपको यह भी पता होना चाहिए कि बुद्धि जैसे-जैसे तेज होती है, हमारी तर्कशक्ति प्रबल होती है। ऐसा होने से हमारे भीतर लडने की क्षमता और बढ जाती है। आज की अपराधी मनोवृत्ति, हिंसा की मनोवृत्ति, लडने की मनोवृत्ति का जो विकास हो रहा है वह हमारी बुद्धि की पैनी धारा के द्वारा हो रहा है। आज इस बात की जरूरत है कि हमारी चेतना जागे। चेतना को जगाने की जरूरत है। बात तो अनुशासन की करते है पर लगता है कि मूर्च्छा का वातावरण इतना घना है कि कोई चेतना की बात करता है तो हम उसे स्वीकार करने की मुद्रा मे नही होते है।

एक आदमी बहुत बीमार था। मूर्च्छित हो गया। लगा कि मर गया। डॉक्टर को बुलाया गया। उसने नाडी देखी, हृदय की धडकन देखी। उसे लगा कि रोगी मर गया है। उसने घोषित कर दिया कि रोगी मर गया। रोगी जी रहा था। उसने साहस बटोरकर धीरे से कहा—मैं मरा नही, जिन्दा हू। कम्पाउडर पास मे ही खडा था। उसने गुस्से मे कहा—डॉक्टर ज्यादा जानता है कि तुम ज्यादा जानते हो। जब डॉक्टर कह रहा है कि तुम मर गए हो, तो तुम्हारे कहने से क्या होना है ?

कभी-कभी बडी विचित्र स्थिति बन जाती है। हम सचाई को स्वीकार करने के लिए तैयार ही नही होते। सचाई को हम नकारते चले जाते है। परिस्थिति की दुहाई देकर हम समस्या को और अधिक उलझाते चले जाते है। जब तक हम मूल तक नही जाएगे, तब तक कोई बात नही बनेगी। अनुशासन आएगा कहा से ? जब हम अनुशासन के विपरीत दिशा मे चल रहे हैं तो अनुशासन कहा से आएगा ? हम अनुशासन वर्ष तो जरूर मनाए किन्तु आत्मानुशासन तक पहुचने का प्रयास करें। सत्ता का अनुशासन, राज्य का अनुशासन काम का तो होता है, किन्तु अन्त तक हमे पहुचा नही सकता। अनुशासन की स्थापना के लिए हमे आत्मानुशासन जगाना ही होगा। बिना आत्मानुशासन जागे अनुशास्ता की प्रतिष्ठा नही हो सकती है।

समस्या के समाधान का नया आयाम

हिन्दुस्तान जनसख्या की दृष्टि से विश्व का दूसरा बड़ा राष्ट्र है और प्रजातंत्र की दृष्टि से विश्व का सबसे बडा राष्ट्र है। जो जितना बडा होता है उसकी समस्याए भी उतनी ही बडी होती है। दो व्यक्तियो का एक साथ होना समस्या का आदि-बिन्दु है। यह कैसे हो सकता है कि करोडो-करोडो लोग एक साथ जुडे हुए हो और समस्याए न हो ? समस्याओ को अस्वीकार करना सत्य के साथ आख-मिचौनी जैसा है। समस्याओ को स्वीकार करें और मुक्तभाव से स्वीकार करें, फिर उनका समाधान खोजे, यह समस्या को सुलझाने का उपाय है।

गरीबी हिन्दुस्तान की एक बडी समस्या है। करोडो-करोडो लोग रोटी जुटाने मे ही अपना जीवन खपा देते है। गरीबी को मिटाने के लिए सरकार कृत-सकल्प है। समाजवादी समाज-व्यवस्था के सकल्प का भी पुनरुच्चार होता रहता है। उद्योग और व्यापार भी बढा है। इतना होने पर भी वही शिकायत का स्वर गूज रहा है— गरीब और अधिक गरीब हो रहा है, अमीर और अधिक अमीर हो रहा है।

अनुशासन की समस्या है। शिक्षा-सस्थान मे लेकर घर तक यही बात सुनने को मिलती है कि अनुशासन समाप्त हो चुका है, कोई किमी की बात मानने को तैयार नही है। क्या अनुशासन के बिना कोई भी समाज सभ्य, शिष्ट और प्रगतिशील हो सकता है ? अनुशासनहीनता भावी खतरो का स्पष्ट सकेत है।

जातिवाद भी एक उग्र समस्या है। हजारो वर्ष पुराने सस्कार समाज को पीडा दे रहे है, आदमी के लिए आदमी अछूत बन रहा है। एक आदमी दूसरे आदमी के प्रति घृणा, द्वेष और तिरस्कार का विष उगल रहा है।

साम्प्रदायिकता की समस्या और अधिक भयावह है। जिस धर्म की आस्था ने मनुष्य को बन्धुत्व और मैत्री का पाठ पढ़ाया था, वही आस्था आज मनुष्य को मनुष्य का प्राण लूटने के लिए उत्प्रेरित कर रहा है। जिससे प्रकाश की रश्मिया

विकीर्ण हो रही थी, उससे अन्धकार प्रवाहित हो रहा है। पूरी मनुष्य जाति इस साम्प्रदायिकता के नाग से दष्ट है।

बुद्धि, तर्क और विज्ञान प्रधान युग मे अपराध, उपद्रव, आक्रमण और हिंसा का अभिक्रम भी किसी से पीछे नही है। युग की दौड मे, ऐसा लगता है, कोई किसी से पीछे रहना नही चाहता।

अनैतिकता, अप्रामाणिकता और चरित्रहीनता की समस्या भी एक युगीन समस्या बन गई है। इस स्थिति मे पारस्परिक अविश्वास, सन्देह और दूसरो को ठगने के प्रयत्न स्वाभाविक हो जाते हैं। पूरा समाज निरन्तर भय, मानसिक तनाव और चिन्ताओ से घिरा रहता है। उस वातावरण मे स्वस्थ चिन्तन, मानसिक शान्ति और निर्बाध आरोग्य की कल्पना ही नही की जा सकती है।

समस्या के ये बिन्दु ऐसी भयानक रेखाओ का निर्माण करते हैं कि उनसे बनने वाला चित्र कभी आकर्षक नही हो सकता। सोचा जा सकता है कि राज्य के पास प्रबल दडशक्ति है, फिर क्यो नही एक साथ ही सारी समस्याओ से निपट लिया जाए? पर यह सोच सही नही है। यदि दडशक्ति से समस्याओ का समाधान होता तो वह अब तक हो जाता। यह पुनर्विचार का बिन्दु है। इसी से हम नया मोड ले सकते है और नयी दिशा का उद्घाटन कर सकते है। वह नया आयाम है—समाज की चेतना का रूपान्तरण। पुरानी भाषा मे उसे कहा जाता है—आत्मानुशासन या हृदय-परिवर्तन। प्रेक्षा ध्यान की भाषा मे इसे इस रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है कि वर्तमान समाज की चेतना की परिक्रमा नाभि के आस-पास होती है तब ये सारी समस्याए पैदा होती है और उन समस्याओ से मुक्ति नही पायी जा सकती। उनसे मुक्ति पाने का एक उपाय है—चेतना की ऊर्ध्वयात्रा, समाज की चेतना को ऊपर की ओर ले जाना। वह जब हृदय, कठ और मस्तिष्क के आस-पास परिक्रमा शुरू करती है तब ऊपर की समस्याए एक-एक कर समाधान के बिन्दु पर पहुच जाती है। अपेक्षा है आस्था की, अनुसधान, प्रयोग और प्रशिक्षण की। इस श्रेय के सविभाग मे अणुव्रत का भाग कितना होगा, यह आज कसौटी पर है।

अधिनायकवाद और स्वतंत्रता

स्वतन्त्रता और परतन्त्रता—ये दोनों इस युग के बहु-चर्चित शब्द हैं। हमने इन दोनो शब्दो को राष्ट्र के सन्दर्भ मे समझने का प्रयत्न किया है। जिस राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र का शासन होता है वह परतन्त्र और जहा अपना शासन होता है वह स्वतन्त्र। दूसरे राष्ट्रो पर शासन करने की मनोवृत्ति को साम्राज्यवादी मनोवृत्ति कहा जाता है। साम्राज्यवाद लगभग समाप्त हो चुका है, पर नही कहा जा सकता कि साम्राज्यवादी मनोवृत्ति समाप्त हो चुकी है। पहले साम्राज्य का विस्तार प्रत्यक्ष मे होता था, आज वह परोक्ष से हो रहा है। पहले वह सैनिक शक्ति से होता था, आज वह आर्थिक प्रभुत्व से हो रहा है। दूसरो को अधीन रखने की मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। इस परतन्त्रीकरण की मनोवृत्ति को जब-जब बदलने का प्रयत्न होता है तब-तब वह रूपान्तरित हो जाती है, किन्तु अपने अस्तित्व को निरतर बनाए रखती है। जैसे चरितार्थ हो रहा है अनेकान्त का नित्यानित्यवाद। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का एक रूप समाप्त होता है, दूसरा जन्म ले लेता है और मौलिक मनोवृत्ति ध्रुव रहती है। इस मनोवृत्ति को राष्ट्रीय सन्दर्भ मे भी देख सकते है। अधिनायकवादी मनोवृत्ति साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का ही एक सस्करण है। शक्तिशाली व्यक्ति दूसरो की अपेक्षा कम रखता है। वह अपने चिन्तन, विचार और निर्णय को ही अधिक महत्त्व देता है। उसमे विरोधी विचारो को सहने की क्षमता भी नही होती। विरोध या विरोधी को कुचलना उसका एक कर्तव्य-सा बन जाता है। वर्तमान मे अधिनायकवादी मनोवृत्ति अधिक प्रभावी हो रही है।

कहा जाता है, प्रत्येक आदमी स्वतन्त्रता को पसन्द करता है। मैं तो ऐसा नही सोचता। परतन्त्रता को पसन्द करने वाले लोगो की हमारी दुनिया मे कमी नही है। स्वतंत्रता का दीप शक्ति की बाती और जागरूकता के तेल से जलता है। ऐसे लोगो की सख्या कम नहीं है जो न शक्ति के विकास का प्रयत्न करते हैं और न

जागरूक रहने का। फ्रास की क्रान्ति के समय जो स्वतंत्रता-प्रेमी लम्बे समय तक कारावास मे रहे, वे इतने प्रमादी और आलसी बन गए कि कारावास से मुक्त होने पर उन्होने फिर कारावास मे रहना ही पसन्द किया। जिन्हे अपनी शक्ति पर भरोसा नही है, जो अपनी शक्ति को जगाने के लिए कृत-सकल्प नही हैं, जो जागरूक और उद्यमी नही है, वे स्वतन्त्रता को पसन्द नही करते। परतन्त्रता की मनोवृत्ति प्रबल है, इसीलिए अधिनायकवाद पनपता है। यदि सब लोग स्वतन्त्रता की मनोवृत्ति वाले हो तो इसका अकुर भी नही फूट सकता। ऐसा भी होता है कि परतत्र मनोवृत्ति वाले लोगो से घिरे हुए कुछ स्वतत्र मनोवृत्ति वाले लोग कठिनाइया झेलते है और अयोग्य करार दे दिए जाते हैं। चापलूसो की भीड़ मे स्वतन्त्रता का स्वर कही खो जाता है। भीड का कोलाहल ही अधिनायक के कानो तक पहुच पाता है।

कुछ लोग चाहते हैं कि स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहे, अधिनायकवादी मनोवृत्ति न पनपे, अधिनायक का अस्तित्व न रहे। पर यह चाह निषेधात्मक है। इसका विधायक पक्ष है—सामाजिक चेतना और शक्ति-जागरण का प्रयत्न। हम सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पहलू मे स्वतन्त्रता के बारे मे सोचते है। आध्यात्मिक पहलू को बिलकुल छोड देते है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति मे आकाक्षा, लालसा और सुख-सुविधा की भावना पर नियन्त्रण करने की क्षमता नही जागती। इसी परिस्थिति मे अधिनायकवाद का बीज-वपन होता है और इसी वातावरण मे परतन्त्रता को नया जीवन मिलता है। बुराई का बिन्दु व्यक्ति की आतरिक चेतना मे जन्म लेता है, सामाजिक वातावरण मे उसका विस्तार होता है। हम समस्या का समाधान सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष मे खोजते है। इसका अर्थ होता है हमारा पतझड मे विश्वास है, जड मे विश्वास नही है। जब जड सुरक्षित होती है तब पतझड और वसन्त दोनो चलते रहते है। समस्या का मूल बिन्दु है—आन्तरिक चेतना। उसे बदलने की प्रक्रिया हमारे पास नही है। हम समाज को बदलने की बात सोचते हैं। कुछ राजनीतिक प्रणालियो ने समाज को बदलने का प्रयत्न भी किया है, किन्तु जो इष्ट था वह परिणाम नही आया। जीवन की सध्या मे चीन के भाग्य-विधाता माओ ने कहा था—"मै अपने स्वप्न को साकार करने मे बहुत सफल नही हुआ।" केवल निमित्तो को बदलने मे विश्वास करने वाला कोई भी व्यक्ति इस दिशा मे सफल नही हो सकता। मै स्याद्वाद की भाषा मे सोचता हू इसलिए यह भी कहना पसन्द करूगा कि केवल उपादानो को बदलने का प्रयत्न करने वाला भी इस दिशा मे सफल नही हो सकता। हमने उपादान और निमित्तो को विभक्त कर समस्या को चिरजीवी बनाने मे योग दिया है। समस्या को सुलझाने का सरल मार्ग हो सकता है—उपादानो और निमित्तो का योग। हम उपादानो को भी बदले और निमित्तों

को भी बदलें। चेतना का रूपान्तरण करना उपादान को बदलना है। व्यवस्था का परिवर्तन निमित्तो को बदलना है, समाज को बदलना है। निमित्तों के आधार पर परिस्थितिवाद का सिद्धान्त चल रहा है। सामाजिक चिन्तन की यही आधार-भित्ति है। समाजवाद और अधिनायकवाद—दोनो पर्यायवाची शब्द बन गए। यह मान लिया गया है कि नियंत्रण के बिना समाज को नही बदला जा सकता और अधिनायकवाद के बिना नियत्रण नही हो सकता। मार्क्स का स्वप्न था राज्यहीन राज्य (Stateless State) का। यथार्थ यह है कि राज्य की पकड और मजबूत हुई है। व्यक्ति समाज का एक पुर्जा बनकर रह गया। उसके स्वतत्र अस्तित्व की अवधारणा समाप्त होती जा रही है। व्यक्तिवाद और समाजवाद जैसे दो विरोधी खेमे बन गए है। और इसी अवधारणा के आधार पर अध्यात्म-वाद और भौतिकवाद भी आमने-सामने खडे हैं। अध्यात्मवादी भौतिकवाद को समाप्त करना चाहते है और भौतिकवादी अध्यात्मवाद को समाप्त करने पर तुले हुए है। इन एकांगी अवधारणाओ ने मानव जीवन को बहुत अस्त-व्यस्त कर रखा है। इस सन्दर्भ मे मैं अनेकान्तवाद को बहुत उपयोगी मानता हू। हम सापेक्षता का मूल्याकन करें, विरोधी युगलो मे समन्वय साधें और सह-अस्तित्व की अव-धारणा को प्राणवान् बनाए। यह एक उपाय है परतत्रता से स्वतत्रता की दिशा मे प्रस्थान का।

व्यक्तिवाद और समाजवाद

सामाजिक जीवन समस्याओ का जीवन होता है। सचाई यह है कि हमारी दुनिया मे कोई भी जीवन समस्यामुक्त नही हो सकता। इसीलिए मनुष्य समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न करता है। समस्या आती है और वह सुलझाई जाती है। यह क्रम निरतर चलता रहता है। मनुष्य का स्वभाव एक समस्या है। उसकी स्वतत्रता भी एक समस्या है। उसके सोचने का तरीका भी एक समस्या है। वह जड वस्तु नही है, जिसे एक साचे मे ढाला जा सके। वह चेतन है, इस-लिए हर कार्य मे अपनी इच्छा का उपयोग करता है। उसका उपयोग अच्छे काम मे भी हो सकता है और बुरे काम मे भी हो सकता है। इस स्थिति को ध्यान मे रखकर समाज ने व्यवस्था का सूत्रपात किया और उसने व्यक्तिगत स्वतत्रता और इच्छा पर अकुश लगाया। एक सिद्धान्त बना कि स्वतत्रता और इच्छा का अपने हित मे उपयोग हो, किन्तु दूसरे के अहित मे उसका उपयोग न हो। इस सिद्धान्त के आधार पर नैतिकता की आचार-सहिता का विकास हुआ। मनुष्य उस आचार-सहिता के पालन मे भी अपनी स्वतत्रता और इच्छा का उपयोग करने लगा। प्रत्येक बुराई को रोकने के लिए व्यवस्था है, कानून है, दण्ड है, फिर भी बुराइया चल रही है, बेईमानी बढ रही है। यह बिन्दु है—पुनर्विचार का।

निष्कर्ष निकलता है कि आदमी भीतर से न बदले, चेतना का रूपान्तरण न हो तो बाहर से बदला-बदला-सा लगता है, पर वास्तव मे बदलता नही। व्यवस्था बाहर पर नियत्रण करती है, भीतर पर नियत्रण करना उसके अधिकार मे नहीं है। व्रत भीतर का अनुशासन है, इसीलिए अणुव्रत का स्वतत्र मूल्य है। वह व्यवस्था का सहयोग करता है। व्यवस्था उसका सहयोग करती है, फिर भी अपने-अपने स्थान मे दोनों स्वतत्र है।

अणुव्रत और व्यवस्था

दोनो का योग हो सके तो तीसरी स्थिति का निर्माण होता है। उस स्थिति को न आन्तरिक कहा जा सकता है और न बाह्य। उसमे व्यक्ति को बदलने और समाज को सवारने की स्थिति बनती है। वहा न कोरा व्यक्तिवाद रहता है और न कोरा समाजवाद। व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनो की अपनी-अपनी सीमा रहती है, फिर भी दोनो एक-दूसरे के बाधक नही, किन्तु साधक होते है। इस स्थिति के निर्माण मे सबका योग अपेक्षित है। प्रतीक्षा है इस अपेक्षापूर्ति की।

शास्त्रों के व्यापक अर्थ की खोज का दृष्टिकोण

आचार्य विनोबा भावे ने शब्द के अर्थ-परिवर्तन की जो दृष्टि प्रस्तुत की है वह मेरी दृष्टि मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होने 'गीता प्रवचन'(पृष्ठ १७) मे लिखा है—"गीता पुराने शास्त्रीय शब्दो को नये अर्थों मे प्रयुक्त करने की आदी है। पुराने शब्दो पर नये अर्थ की कलम लगाना विचारक्रान्ति की अहिंसक प्रक्रिया है। व्यासदेव इस प्रक्रिया मे सिद्धहस्त थे। इससे गीता के शब्दो को व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ और वह तरोताजा बनी रही एव अनेक विचारक अपनी-अपनी आवश्यकता और अनुभव के अनुसार अनेक अर्थ ले सके। अपनी-अपनी भूमिका पर ये सब अर्थ सही हो सकते है और उनके विरोध की आवश्यकता न पड़ने देकर हम स्वतन्त्र अर्थ भी कर सकते है, ऐसी मेरी दृष्टि है।"

आचार्य विनोबा भावे सत्यग्राही व्यक्ति है, इसलिए उनमे शब्दो की पकड नही है, सत्य की पकड है। उन्होने 'समण सुत्त' के समाधान मे लिखा है—"मैं कबूल करता हू कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोड़कर महावीर से बढकर किसी का असर मेरे चित्त पर नही है। उसका कारण यह है कि महावीर ने जो आज्ञा दी है वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह है कि सत्याग्रही बनो। आज जहा-जहा जो उठा सो सत्याग्रही होता है। बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गाधीजी ने पेश किया था, लेकिन बाबा जानता था वह कौन है, वह सत्याग्रही नही, सत्यग्राही है। हर मानव के पास सत्य का अश होता है, इसलिए मानव-जन्म सार्थक होता है। तो सब धर्मों मे, सब पन्थो मे, सब मानवो में सत्य का जो अश है उसको ग्रहण करना चाहिए। हमको सत्यग्राही बनना चाहिए, यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसी का असर है। गीता के बाद कहा, किन्तु जब देखता हूं तो मुझे दोनो मे फर्क ही नही

दीखता है।"

मेरी दृष्टि मे अनेकान्त सत्य की खोज का सबसे शक्तिशाली माध्यम है। उसके आधार पर ही शब्द को व्यापक अर्थ दिया जा सकता है। सत्य अनन्त है और शब्द शान्त। मैंने गहरे मे उतरकर अनुभव किया—मैंने जब-जब शब्द का सहारा लिया तब-तब सत्य को असत्य की दिशा मे प्रस्थान करते देखा और अखण्ड को खण्डित होते देखा। पर मैंने अनुभव किया—जब-जब मैंने शब्द को छोडा तब-तब मैंने सत्य-खण्ड को भी अभिव्यक्ति देने मे अपने आपको असमर्थ पाया। सत्य की खोज मे एक सन्तुलन अपेक्षित है। शब्द और अशब्द, विकल्प और निर्विकल्प, विचार और दर्शन, तर्क और अनुभव तथा परोक्ष और प्रत्यक्ष—इन सब का सन्तुलन। मानवजाति के विकास का आधार अगूठा है। वह अगुलियो की विपरीत दिशा मे है, इसलिए मनुष्य की कर्मजा-शक्ति सभ्यता और सस्कृति का विकास हुआ है। यदि अगूठा अगुलियो की श्रेणी मे ही होता तो लिपि, कला और शिल्प—ये सब स्वप्नजगत् के सत्य होते, यथार्थ की भूमि पर नही उतर पाते।

सत्य को दो विपरीत दिशाओ मे खोजा जा सकता है। शब्द के अर्थ की खोज का भी यही नियम है। सत्य के अनन्त पर्याय होते है और शब्द के भी अनन्त पर्याय होते है। इसलिए हम आश्वस्त है कि सत्य की खोज का द्वार कभी बन्द नही होता। हर पीढी को उसकी खोज का अधिकार प्राप्त रहेगा। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से शब्द के अर्थ की उत्क्रान्ति, विकास और परिवर्तन का यही आधार है। यह अहकार किसी युग-चेतना को नही होना चाहिए कि सत्य खोज लिया गया है। अब भविष्य मे उसकी खोज की आवश्यकता नही है। यह अहकार किसी व्यक्ति को नही होना चाहिए कि मैं जो कहता हू वही सत्य है अथवा मैंने इस शब्द का जो अर्थ किया है, वही अर्थ यथार्थ है। ऐसा आग्रह सबसे बडा असत्य होता है। प्रश्न होगा—फिर सत्य क्या है? उत्तर बहुत सीधा है। दूसरा जो कहता है, उसमे भी सत्याश है। उस सत्याश की खोज करना वास्तव मे सत्य है।

सत्य के दो रूप है—सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म सत्य को सूक्ष्म और स्थूल सत्य को स्थूल उपायो द्वारा खोजा जा सकता है। मैंने वर्तमान की कठिनाई का अनुभव किया है कि आज का धार्मिक और दार्शनिक सूक्ष्म सत्य की खोज स्थूल उपायो द्वारा कर रहा है। सूक्ष्म सत्य की खोज के लिए भी वह केवल शब्द, विचार और तर्क का प्रयोग कर रहा है। इसीलिए उसका दर्शन तर्कमूलक बन गया है। उसके फलित होते हैं—विवाद, सघर्ष और जय-पराजय का मनोभाव। दो हजार वर्ष पहले का दार्शनिक इन्द्रिय और मन को पटु या सूक्ष्म बना अथवा अतीन्द्रियज्ञान को प्राप्त कर सत्य खोजता था। उसका दर्शन दर्शनमूलक होता था। उसके फलित थे—समन्वय, मैत्री और आत्म-शोधन। आज का वैज्ञानिक सूक्ष्म यन्त्रों के

माध्यम से सत्य की खोज कर रहा है। इसीलिए वह सत्य की खोज मे बहुत सफल हुआ है। किन्तु आज के दार्शनिक के पास न अतीन्द्रिय चेतना का विकास है और न सूक्ष्म यत्र। सूक्ष्मदर्शन के अतीत और वर्तमान दोनो माध्यमों से वचित है। उसके पास केवल शब्द, विचार और तर्क हैं। इसलिए वह सत्यग्राही कम है, आग्रही अधिक है। पुराने शब्दों को नया अर्थ तब दिया जा सकता है जब दार्शनिक आग्रही कम और सत्यग्राही अधिक हो।

गीता : संदेश और प्रयोग

मैं जैन दर्शन मे दीक्षित हुआ हू, इसलिए अनेकान्त मुझे विरासत मे मिला है। मैंने उसे केवल विरासत के रूप मे ही नही स्वीकारा है, उसे आधुनिक सदर्भों मे समझने का प्रयत्न किया है। सापेक्षवाद और सभावनावाद अनेकान्त के आधार-स्तभ है। इन्हे समझकर मैंने उसे हृदयगम किया है।

गीता मेरी दृष्टि मे अनेकान्त दर्शन का एक सुन्दर ग्रन्थ है। आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मतितर्क' और आचार्य समतभद्र ने 'आप्तमीमासा' मे सूक्ष्मता से नयवाद का निरूपण किया है और वे दार्शनिक ग्रन्थ बन गए। गीता आध्यात्मिक और दार्शनिक दोनो है। इसमे नयदृष्टि का पद-पद पर उपयोग उपलब्ध है। इसीलिए यह द्वैतवादी और अद्वैतवादी दोनो के लिए आधारभूत ग्रन्थ है। द्वैत और अद्वैत दोनो विरोधी बिन्दु प्रतीत होते है। वास्तव मे उनमे विरोध नही है। वे दोनो सापेक्ष है। अद्वैत के बिना द्वैत की और द्वैत के बिना अद्वैत की कल्पना नही की जा सकती। शब्द-सरचना के लिए भी विरोधी युगल का अस्तित्व अनिवार्य है। योगिराज कृष्ण ने कहा—इस जगत् का विस्तार अव्यक्त से हुआ है। सब भूत मुझमे स्थित है। मैं उनमे स्थित नही हू—

'मया ततमिद सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि च चाह तेष्ववस्थित' ॥९।४

इसका अग्रिम वक्तव्य है—भूत मुझमे स्थित है, ऐसा भी नही है—

'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन ॥९।५

भूत मुझमे स्थित भी हैं और नही भी। ये दोनो विरोधी बातें कैसे सम्भव हो सकती हैं? इसका उत्तर है कि यह 'ऐश्वर्य योग' है। सापेक्षवाद ही गीता की

भाषा मे 'ऐश्वर्य योग' है। सापेक्षवाद के बिना विरोधी युगल की व्याख्या नही की जा सकती। मनुष्य के जीवन मे अनेक विरोधाभास और विसंगतियां हैं। यह हमारी स्थूलदृष्टि है, व्यवहार नय है। सूक्ष्मदृष्टि या निश्चय नय का वक्तव्य व्यवहार नय के वक्तव्य से भिन्न होता है। उसके अनुसार यह सारा जगत् सवादितापूर्ण है। प्रत्येक द्रव्य समन्वय के सूत्र से पिरोया हुआ है। इसीलिए एक को जानने वाला सबको जानता है और सबको जानने वाला ही एक को जान सकता है। एक मे सब और सब मे एक—इस सार्वभौम दृष्टि मे विसवादिता के लिए कोई अवकाश नही है।

वर्तमान युग की समस्या है विसवाद—ज्ञान और आचरण की दूरी, कथनी और करनी की दूरी। अविसंवादिता की खोज है। उसका बहुत अच्छा माध्यम है गीता। यह व्यापक समस्या है कि ज्ञान और आचरण का मध्यवर्ती सेतु मनुष्य को उपलब्ध नही है। बुराई को बुराई जानने वालो की कमी नही है। इस अवस्था मे 'ज्ञान-अग्नि से कर्म दग्ध हो जाते है,' यह वाक्य अर्थवान नही लगता। क्या ज्ञान की अनेक कोटिया है? वह किस कोटि का ज्ञान है, जिससे कर्म दग्ध हो जाते है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए यह ज्ञातव्य है कि गीता केवल सिद्धान्त-ग्रन्थ नही है। वह प्रयोग-ग्रन्थ भी है। उसमे अनेक प्रयोग निर्दिष्ट हैं। जीवन को सिद्धान्त की अपेक्षा प्रयोग अधिक प्रभावित करते है। समस्या यह है कि सिद्धान्त प्रयोग की अपेक्षा अधिक सरल है। सिद्धान्त की परम्परा प्रचलित है, प्रयोग की परम्परा अविच्छिन्न नही है। गीता के प्रवचनकार अनेक है। उसका प्रयोगकार खोजने पर कोई विरल ही मिलेगा। ज्ञान आचरण का मध्यवर्ती सूत्र है—प्रयोग।

अनासक्ति एक महान् प्रयोग है। गीता का नवनीत है—अनासक्ति योग। क्या उसका स्वाध्याय या विवेचन करने वाला कर्म के क्षेत्र मे अनासक्त बन जाता है? प्रतिदिन पारायण करने वालो मे भी अनासक्ति का अवतरण नही दिखाई देता। इसका हेतु है प्रयोग का अभाव।

योगिराज कृष्ण ने कहा—मै उदासीन की भाति आसीन हू। कर्मों मे आसक्त हू। इसलिए वे कर्म मुझे बांध नही पाते।

'न च मा तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनजय।
उदासीनवदासीनमसक्त तेषु कर्मसु ॥ ९।९

प्रयोग के बिना कोई मनुष्य उदासीन नही हो सकता। सामान्यत हर मनुष्य प्रिय और अप्रिय सवेदनो मे जीता है। इनसे ऊपर उठना साधना के बिना सम्भव नही। गीता मे उदासीन या तटस्थ का अर्थ है आत्मवान्। आत्मवान् ही अनासक्त हो सकता है। उसे कर्म नही बांध पाते—

'योगसंन्य स्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्त न कर्माणि निबध्नन्ति धनजय॥ ४।४१

आत्मवान् होने का प्रयोग है—वैभाविक क्रिया के अकर्तृत्व का अनुभव। देखना, सुनना, छूना, सूघना, श्वास लेना—ये सब इन्द्रिय-कार्य हैं।

इन्द्रिया अपने-अपने विषय मे प्रवृत्त हो रही हैं। सवेदन मेरा मौलिक स्वभाव नही है। इस प्रकार अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप की अनुभूति करने वाला आत्मवान् हो जाता है। यह सब अभ्यास पर निर्भर है।

सिद्धान्त की क्रियान्विति इसीलिए नही हो रही है कि चर्चा है, अभ्यास नही है। सिद्धान्त और प्रयोग दोनो को पृथक् कर गीता का रहस्य नही समझा जा सकता। सिद्धान्त की सार्थकता का बोध प्रयोग के द्वारा ही सभाव्य बन सकता है—

'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ५।८
'प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ५।९

*

विपश्यना की अतीत यात्रा

अणुव्रत न्यास द्वारा सचालित अध्यात्म-साधना केन्द्र मे विपश्यना शिविर का आयोजन। श्री सत्यनारायणजी गोयनका की उपस्थिति। उसमे कुछ गृहस्थ साधक थे। अधिकाश साधु-साध्वियो का प्रवेश था। मैं भी उसमे सम्मिलित हुआ। साधना पहले से चल रही थी। ध्यान का क्रम भी चालू था। पर जिज्ञासा थी विपश्यना पद्धति के विषय मे।

जैन सूत्रो मे पहला सूत्र है 'आयारो' (आचाराग)। उसे पढने वाला 'लोग-विपस्सी' शब्द से अपरिचित नही हो सकता। 'लोक' का अर्थ है—शरीर और 'विपस्सी' का अर्थ है—गहरे मे उतरकर उसे देखने वाला। ध्यान का अभ्यासी शरीर 'विपश्यी' होता है। मै भी इस अर्थ से अपरिचित नही था।

आचाराग तथा अन्य जैन साहित्य मे विपश्यना के तत्त्व भरे पडे हैं, पर उसकी व्याख्या विस्मृत हो चुकी, यह कहने मे कोई सकोच का अनुभव नही होता। कितनी शताब्दियो से जैन साधक विपश्यना की पद्धति से अपरिचित है, यह अनु-सन्धेय है। किन्तु यह असंदिग्ध है कि विपश्यना ध्यान की परम्परा उनमे प्रचलित नही है। मै शिविर मे गया। केवल अभ्यास के लिए ही मैं नही गया, तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि भी मेरे सामने थी। जैन परम्परा मे लुप्त पद्धति को पकडने का ध्येय भी मेरे सामने था। एक ही श्रमण-परम्परा की दो धाराओं—जैन और बौद्ध—मे ध्यान की पद्धति समान न हो, उसमे आश्चर्य हो सकता है। यदि वह समान हो तो कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। बौद्ध परम्परा मे विपश्यना ध्यान की पद्धति प्रचलित है। जैन परम्परा मे वह पद्धति प्रचलित नही है किन्तु उसका आधार और उसके मौलिक तथ्य विद्यमान हैं। उनके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि किसी समय यह पद्धति जैन परम्परा मे प्रचलित थी। भगवान् महावीर इस पद्धति से ध्यान करते थे, यह बहुत प्रामाणिक तथ्य है।

गोयनकाजी ने शिबिरार्थियो को आनापानसती का अभ्यास शुरू कराया। मुझे जैन परम्परा मे प्रचलित नासाग्रदृष्टि के ध्यान की स्मृति हो आयी। गोयनकाजी बता रहे थे कि मन को ऊपर के होंठ पर केन्द्रित करो। हम लोग नासाग्र पर

मन को केन्द्रित करने में अभ्यस्त थे। वे बर्मी साधना से परिचित हैं, इसलिए ऊपर के होंठ पर मन को केन्द्रित करने का निर्देश उचित है। चिपटी नाक वालों के लिए होठ के ऊपरी भाग पर मन को केन्द्रित करना अधिक उपयुक्त है। भारतीय मनुष्यो की नाक लम्बी होती है, इसलिए उनका नासाग्र होठ से अधिक सवेदनशील होता है। गोयनकाजी के निर्देशानुसार ऊपर के होठ पर सवेदनाओ को पकडते-पकडते मैं अनायास ही नासाग्र पर पहुच जाता और वहा सवेदनाओ को पकडता तथा श्वास के स्पर्श का अनुभव करता।

मैंने अनुभव किया कि कायोत्सर्ग या शारीरिक शिथिलीकरण के साथ आनापानसती का योग बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीनकाल मे कायोत्सर्ग श्वासोच्छ्वास के साथ किया जाता था। वर्तमान मे वह पद्धति छूट गई। प्राचीन ग्रन्थो मे श्वासोच्छ्वास के साथ कायोत्सर्ग करने का विधान देखा और आनापानसती के प्रयोग से उस विधान को समर्थन मिल गया। बौद्ध परम्परा मे जो आनापानसती की साधना है वही जैन परम्परा मे कायोत्सर्ग की साधना है।

तीसरे दिन विपश्यना का अभ्यास प्रारम्भ हुआ। गोयनकाजी ने साधको को निर्देश दिया—वे स्थिर आसन मे बैठ, आखे मूद, शरीर के भीतर देखे, भीतर मे होने वाले सवेदनो का अनुभव करे, सुखद या दु खद जो भी सवेदन हो, उन्हे तटस्थ भाव से देखे, अप्रमत्त रहे, वर्तमान की सचाई का अनुभव करे, इस निर्देश के साथ अभ्यास शुरू हो गया। मन को अन्तर्मुखी करने की कुजी हाथ लग गई। वैसे यह बात अज्ञात नही थी। याज्ञवल्क्य गीता और आचार्य हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' को पढने वाला 'उत्तराधार' प्राणायाम से अपरिचित नही है। उस प्राणायाम मे सिर से पैर तक और पैर से सिर तक, प्रत्येक अवयव का स्पर्श करते हुए प्राणधारा को प्रवाहित किया जाता है। किन्तु विपश्यना की पद्धति यही है। इसकी प्रामाणिक जानकारी एक सुपरिपक्व अभ्यासी साधक के द्वारा मुझे पहली बार मिली। एकाग्रता का अभ्यास मुझे पहले से था। इसलिए सवेदनाओ को पकडने मे विशेष कठिनाई नही हुई। प्रथम अभ्यास मे ही कुछ स्पन्दन, कुछ सवेदनाए और यत्र-तत्र शारीरिक अवरोध अनुभव मे आए। मैंने सोचा—मन की सूक्ष्मता होने पर और अधिक सूक्ष्म सवेदनाओ को पकडा जा सकता है। अन्तर्मुखी होने, घटना के प्रति तटस्थ रहने का एक निश्चित दृष्टिकोण निर्मित हो गया। कोई बहुत बडा शारीरिक या मानसिक लाभ हुआ हो यह मैं नही कह सकता। यह कह सकता हू कि मुझे धारणात्मक लाभ अवश्य हुआ। मेरी धारणा निश्चित बन गई कि यह पद्धति वीतरागता के अभ्यास की पद्धति है। इसमे चमत्कार, प्रलोभन या मिथ्या कल्पना के लिए कोई अवकाश नही है। यह यथार्थवादी दृष्टिकोण से निष्पन्न यथार्थवादी साधना है।

मैं अभ्यास-काल मे अभ्यास करता गया। उसके बाद अवकाश के क्षणो मे

विपश्यना की आचारांग के सूत्रो से तुलना करता गया। मुझे लगा आचारांग सूत्र मे विपश्यना की पूर्ण पद्धति प्रतिपादित है। किन्तु परम्परा की विस्मृति होने के कारण उसकी स्पष्ट पकड़ नहीं है।

विपश्यना का मूल तत्त्व है— अप्रमाद और शरीर-दर्शन। यथार्थ को जानना और घटना के प्रति तटस्थ रहना। आचारांग का एक सूत्र है—पुरुष अप्रमाद की साधना मे उत्थित होकर प्रमाद न करे (५।२३)। अप्रमाद की साधना का सूत्र है—शरीर की विपश्यना। इस औदारिक (स्थूल) शरीर का यह वर्तमान क्षण है। इस प्रकार जो वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है; वह सदा अप्रमत्त होता है(५।२१)।

सामान्यत शरीर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अन्तर् की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन है स्थूल शरीर। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर हैं। उनके भीतर है आत्मा। स्थूल शरीर की क्रियाओ और सवेदनाओ को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमश. तैजस और कर्म शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-दर्शन का दृढ़ अभ्यास और मन सुशिक्षित होने पर शरीर मे प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल दर्शन से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढता जाता है।

साधक चक्षु को सयत कर लोक (शरीर) को देखता है। वह लोक के अधो-भाग को देखता है, ऊर्ध्वभाग को देखता है और तिरछेभाग को देखता है (२।१२५)। जो पुरुष शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श को भली भाति जान लेता है, उनमे राग-द्वेष नही करता—तटस्थ रहता है, वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है (३।४)।

विपश्यना की बौद्ध परम्परा मे धर्मवान् शब्द ही उपयुक्त है। जैनों की विपश्यना पद्धति मे आत्मवान् शब्द भी सगत है। जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक को जानता है वह मुनि (ज्ञानी) कहलाता है। वह धर्मविद् और ऋजु होता है (३।५)।

जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला देती है, वैसे ही समाहित आत्मा वाला अनासक्त पुरुष कर्म-शरीर को प्रकपित, कृश और जीर्ण कर देता है (४।३३)। आत्मा की संप्रेक्षा करने वाला अनासक्त हो जाता है (४।३२)।

आचाराग सूत्र मे विपश्यी और सप्रेक्षा—ये दोनो शब्द मिलते है। विपश्यना ध्यान की साधना के बाद इन दोनो शब्दों की गहराई मे जाने और उनका हार्द समझने का अवसर मिला। एक ही श्रमण परम्परा की दो धाराओ मे विपश्यना या प्रेक्षा का प्रचलन होना आश्चर्य की बात नही है। आश्चर्य की बात यही है कि बौद्ध धारा ने उसे अब तक अविच्छिन्न रख लिया और जैन धारा उसे अविच्छिन्न नही रख सकी। उस विस्मृत तत्त्व को पुन: स्मृति-पटल पर उतारने मे विपश्यना शिविर की साधना निमित्त बनी। इसे मैं सबसे बडा लाभ मानता हूँ।

मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि

कहानी बचपन से शुरू होती है। कोई बच्चा आगे क्या होगा, यह सब नियति के गर्भ मे होता है। उसका स्पष्ट बोध स्वय को भी नही होता और दूसरो को भी नही होता। उसका पूर्वाभास स्वय को भी हो जाता है और दूसरो को भी हो जाता है। मैं लगभग आठ वर्ष का था। एक अज्ञात भिक्षु आया। वह घर-घर भिक्षा मागता हुआ घूम रहा था। वह मेरे पडोसी के घर पहुचा। मेरे एक साथी को देखकर वह बोला—'यह बच्चा एक सप्ताह के बाद चल बसेगा।' वह भिक्षु मेरे घर पहुचा। उसने मुझे देखकर कहा—'यह बालक योगी होगा, योगिराज होगा।' मै नही जानता था, योगी क्या होना है ? इन दोनो घटनाओ का लोगो को पता चला। बात सारे लोगो मे फैल गई। पर एक अनजाने भिक्षु की बात थी, इसलिए किसी ने उस पर विशेष ध्यान नही दिया। सप्ताह बीता और मेरा साथी अचानक इस ससार से चल बसा। तब लोगो का ध्यान उस भिक्षु की भविष्यवाणी की ओर गया। उसे खोजा, पर वह कही दूसरी जगह जा चुका था। उसका कोई पता नही चला।

मेरी बहन का विवाह था। घर मे काफी लोग आए हुए थे। मेरे मन मे एक तरग उठी और मै आखो पर रूमाल बाधकर चलने लगा। जब दरवाजे के पास पहुचा तो सिर भीत से टकरा गया। ललाट के मध्य मे चोट लगी, ठीक उसी स्थान पर जो ज्योति-केन्द्र (पिनियल ग्लैन्ड) का स्थान है। कभी-कभी बाहर का आघात भी भीतर की चेतना को जगाने का निमित्त बन जाता है। चेतना बाहर मे नही जागी हो, पर भीतर मे उसका प्रस्फुटन शुरू हो गया।

नौ वर्ष पूरे हो गए। 'मेमनसिह' (वर्तमान मे बगला देश) मे मेरी चचेरी बहन का विवाह था। उस उद्देश्य से मा और चाचा के साथ मैं वहा गया। बीच मे हम कलकत्ता पहुचे। वहा हम सभी बुआ के पास ठहरे। भोजन के पश्चात् मेरे चाचा और उनकी दूकान के कर्मचारी कलकत्ता के बाजार मे सामान

खरीदने गए। मैं भी उनके साथ चला गया। वे दूकानों में सामान खरीदते रहे और मैं इधर-उधर देखता रहा। रास्ते मे चलते-चलते मैं कही रुक गया और वे आगे बढ़ गए। न उनको ध्यान रहा और न मुझे ध्यान रहा। मैं अकेला रह गया। मुझे नही पता कि मुझे कहा जाना है। न कोठी का पता और न उसके नंबर का पता। पर पता नहीं मेरी अन्तश्चेतना को इन सबका कैसे पता चला ! मुझे जब यह लगा कि मैं अकेला रह गया हू तब मैंने सबसे पहले एक काम किया कि मैंने अपने हाथ की घड़ी खोली और गले मे से स्वर्णसूत्र को निकाला और दोनों को जेब मे रख लिया। मैं पीछे मुडा और अज्ञात की ओर चल पडा। मुझे नही पता, कहा जाना है, कहा जा रहा हू। पर अन्तश्चेतना को कोई पता था, मैं ठीक स्थान पर पहुच गया। कुछ समय बाद मेरे चाचा को पता चला कि मैं उनसे बिछुड गया हू। तब उन्होने मुझे खोजने के लिए बहुत दौडधूप की। पुलिस-स्टेशन पर गए। मेरे गुम होने की रिपोर्ट लिखाई और वे मुझे खोजते-खोजते घर आए। नीचे से ही उन्होने चिल्लाना शुरू कर दिया—'नत्थू हमसे बिछुड गया। उसका कोई पता नही चला।' उनकी आखें डबडबाई हुई थी। वे बहुत परेशान दीख रहे थे। उनकी बहन ने कुछ क्षणो तक उन्हे कोई बात नही बताई। फिर अचानक मुझे भीतर से बाहर लाकर उनके सामने खडा कर दिया। उनकी सारी परेशानी दूर हो गई। उन्होने पूछा—'तू यहा कैसे पहुंचा ?' मेरे पास इसका कोई उत्तर नही था। जीवन मे सब कुछ उत्तरित नही होता। कितना अच्छा होता कि मनुष्य अनुत्तरित का उत्तर दे पाता।

मेरे पिताजी चार भाई थे। बडे भाई का नाम था गोपीचन्दजी। उनके एक पुत्र था। उनका नाम था महालचन्दजी। युवावस्था मे अचानक उनका देहावसान हो गया। पिता दु खी, माता दु खी और पत्नी दु खी। सारा परिवार दु खी। मुझसे वे बहुत स्नेह रखते थे। मुझे भी बडा दु ख हुआ। अन्तर्मन मे एक चोट लगी। जीवन के प्रति किसी अज्ञात कोने मे एक अनास्था का भाव पैदा हो गया।

मुनि छबीलजी का चातुर्मास हुआ। मैंने जीवन का एक दशक पूरा कर लिया। दूसरे दशक मे प्रवेश हो चुका था। उनके सहवर्ती मुनि मूलचदजी ने मुझे प्रेरित किया—मैं तत्वज्ञान पढू। मैंने अध्ययन शुरू किया। एक दिन मुनि-द्वय ने मुझे मुनि बनने की बहुत हल्की-सी प्रेरणा दी। मेरा अन्त करण झकृत-सा हो गया, जैसे कोई बीज अकुरित होना चाहता हो और उस पर पानी की फुहारें गिर जाए। जैसे मेरा अन्तर्मन मुनि बनना चाहता हो और उनकी प्रेरणा की ही प्रतीक्षा हो। मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ। मैंने अपनी मा से कहा—'मैं मुनि होना चाहता हूं।' मा ने कहा—'मैं भी साध्वी होना चाहती हू। पर कितना कठिन है यह मार्ग और कितनी कठिन है इसकी साधना ! तूने सोचा है ?' मैंने

कोई उत्तर नही दिया। अनुत्तरित को उत्तरित करना मुझे जरूरी नहीं लगा। मेरे पिता का साया मुझ पर से बहुत जल्दी उठ गया था। मैं ढाई मास का था तब उनका स्वर्गवास हो गया था। यदि कहू तो बात अस्वाभाविक लगती है। पर मेरी स्मृति कहती है कि मैंने उन्हें मृत्यु-शैया पर देखा है। भाई कोई था नही। दो बहने थी। दोनो विवाहित।

हमने पूज्य कालूगणीजी के दर्शन करने का निश्चय किया। हम गगाशहर पहुचे। पूज्य कालूगणीजी के दर्शन किए। उनके प्रदीप्त मुखमडल की आभा और उनकी वह मुद्रा अब भी मेरी स्मृति मे वैसी ही अकित है। मुनि मूलचंदजी ने कहा था—'वहा तुम मुनि तुलसी के दर्शन जरूर करना। वे आयु मे छोटे हैं, पर बहुत भाग्यशाली है। उन पर पूज्य कालूगणी की असीम कृपा है।' मैंने वहा पूछा—'मुनि तुलसी कहां है?' एक भाई ने बताया—'वे छत पर बैठे है।' मैं वहां गया, दर्शन किए। एकटक उनके सामने देखता रहा। उन्होने पूछा—'कहां से आए हो?' 'टमकोर से आया हू'—मैंने उत्तर दिया। मौखिक प्रश्न और उत्तर बहुत नही चला, किन्तु मूक प्रश्नोत्तर बहुत लबा चला और वह गहरे मे उतर गया। हमने दीक्षा के लिए प्रार्थना की और उसकी पूर्व-स्वीकृति मिल गई। उस दिन वहा रुके और फिर गाव चले आए।

टमकोर एक छोटा गाव है। उस समय वहा कोई राजकीय विद्यालय नही था। मै गुरुजी की पाठशाला मे पढा। वर्णमाला पढी, कुछ पहाडे पढे और कुछ विशेष पढने का योग नही मिला। ग्यारहवा वर्ष आधा बीता। माघ शुक्ला दसमी, वि० स० १९८७ के दिन पूज्य कालूगणी का वरदहस्त हमारे सिर पर टिका। मैं मेरी माता के साथ दीक्षित हो गया। हमारी दीक्षा भसालीजी के बाग मे हुई। वहा से प्रस्थान कर पूज्य कालूगणी गधैयो के नोहरे मे आए। वही उनका प्रवास था। वहा पहुचते ही उन्होंने मुझे निर्देश दिया—'तुम तुलसी के पास जाओ और वही तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा होगी।' गगाशहर मे अज्ञात की उर्वरा मे एक बीज-वपन हुआ था, उसे अब अकुरित होने का अवसर उपलब्ध हो गया।

मुनि-दीक्षा स्वीकारने के पश्चात् क्या करना चाहिए—इसकी दिशा मेरे सामने स्पष्ट नही थी। अज्ञात जब सक्रिय होता है तब ज्ञात की दिशा स्पष्ट नही होती। शायद ऐसा भी होता होगा कि ज्ञात की दिशा स्पष्ट होने पर अज्ञात की सक्रियता कम हो जाती है। लोगो ने मुझे बहुत बार पूछा—आप इतनी छोटी अवस्था मे मुनि क्यो बने? मैं इसका क्या उत्तर देता? कुछ घडे-घडाये उत्तर होते है। मैं उनमे कम विश्वास करता हू। इसलिए मैं नही कहता कि मुझे ससार असार लगा इसलिए मैं मुनि बन गया। अथवा जन्म-मरण के चक्र से डरकर मैं मुनि बन गया। अथवा नरक के भय और स्वर्ग के प्रलोभन से मैं मुनि बन गया। मैं एक ही उत्तर देना पसद करूगा और वही उत्तर देता रहा हू कि कोई अज्ञात

की प्रेरणा थी और ज्ञात जगत् की घटना घटी और मैं मुनि बन गया। हम अज्ञात को छोड़कर केवल ज्ञात को समझने का प्रयत्न करते हैं, केवल उसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहते हैं, वह सच होने पर भी अधूरा सच होता है, पूरा सच नहीं होता। मैं मुनि बनने और मुनि तुलसी की छत्रछाया में नयी जीवन-यात्रा चलाने को एक अज्ञात की प्रेरणा मानता हूं। ज्ञात जगत् मे इसका समाधानकारक उत्तर मुझे उपलब्ध नही होता।

मेरे अध्ययन का प्रारम्भ दसवैकालिक से हुआ। वह एक जैन आगम है। भाषा उसकी प्राकृत है और मुनि की जीवन-यात्रा सागोपाग निरूपित है। मेरा अध्ययन बहुत मंथर गति से चला। पूरे दिन मे उसके दो-तीन श्लोक कंठस्थ कर पाता था। इस मथरगति से मुनि तुलसी भी प्रसन्न नही थे और पूज्य कालूगणी भी प्रसन्न नही थे। वे चाहते थे मैं त्वरित गति से आगे बढू। कुछ दिनो तक मैं उनकी चाह को पूरा नही कर सका। सस्कृत और प्राकृत का कभी नाम भी नही सुना था। अपरिचित से परिचित होने मे प्रारभिक कठिनाई होती है। मैंने भी उस कठिनाई का सामना किया। थोडे दिनो बाद वह कठिनाई दूर हो गई। मेरी गति तेज हुई और मैं प्रतिदिन आठ-दस श्लोक कठस्थ करने लगा। अब सब प्रसन्न थे।

मैंने अनुभव किया कि मैं उपालभ और साधुवाद, भय और प्रेम—दोनो का मिश्रित जीवन जी रहा हू। मुनि तुलसी प्रमाद होने पर उलाहना भी बहुत देते और सही कार्य करने पर साधुवाद भी देते। मेरे प्रति उनके अन्त करण मे आकर्षण भी था और वे अनुशासनात्मक भय भी बनाए रखते थे। नीति का वचन है—भय के बिना प्रीति नही होती। मेरा अनुभव यह है कि प्रीति के बिना भय नही होता। दोनो सचाइया अधूरी है, पर दोनो मे सत्याश अवश्य है। पूज्य कालूगणीजी जोधपुर चातुर्मास कर रहे थे। इस समय मुनि तुलसी की पूरी पाठशाला चल रही थी। उसमे आठ-दस साधु पढ रहे थे। अनुशासन कठोर था। केवल अध्ययन। परस्पर बातचीत करने के लिए कोई समय नही। हम पढते-पढते थक जाते। मन होता परस्पर मिलें और बातचीत करे। मुनि तुलसी के सामने बातचीत कर नही सकते थे। वे प्रयोजनवश जब दूसरे स्थान मे जाते तब हम बातचीत करने बैठ जाते। उनके आने का पता चलता तब फिर सब अपना पाठ कठस्थ करने लग जाते। कभी पता नही चलता तो उलाहना मिलता। कभी-कभी हम एक साधु को सीढ़ियो के पास बिठा देते। वह हमे मुनि तुलसी के आने की सूचना देता और हम सब अपने अध्ययन मे लग जाते। यदि हमारे मन मे उनके प्रति प्रीति नही होती तो हम उलाहना के भय से भी मुक्त हो जाते। जो केवल डरता है वह ढीठ बन जाता है। डर के पीछे भी एक बन्धन-सूत्र होना है और वह है—प्रीति। छापर की घटना है। एक दिन मुनिवर ने मुझे कहा—"आज तुम्हे 'विगय' नहीं खानी है।" यह एक भूल का प्रायश्चित्त था और मेरे जीवन मे ऐसे

प्रायश्चित्त का यह पहला ही अवसर था। भोजन का समय हुआ। मुनिश्री चम्पालालजी, मुनिवर और मै—तीनो एक साथ भोजन करते। गोचरी मे आम का रस आया। 'मैं नही खाऊ और वे खाए'—यह उन्हे अच्छा नही लगा। उन्होने कहा—तुम खाओ। मैंने कहा—नही खाऊगा। आपने पहले कहा था कि तुम्हे विगय नही खानी है तो अब मैं कैसे खाऊ? मैं मेरी बात पर अड़ गया। हमारी भोजन की मडली बडी थी। मुनिश्री मगनलालजी की सन्निधि मे लगभग बीस-पचीस साधु एक मडली मे भोजन करते थे। उन सबके बीच कोई बातचीत नही की जा सकती। मुनिवर ने कुछ शब्दो के सकेतो से मुझे विवश कर दिया और मै अपने बालहठ को छोडने के लिए तैयार हो गया। एक किशोर के विकास मे सहयोगी बनना बहुत कठिन बात है। उसके मन को तोडकर चलने वाला भी उसका सहयोगी नही बन सकता। और सब कुछ उसके मनचाहा करने वाला भी उसका सहयोगी नही हो सकता। सहयोगी वह हो सकता है जो सब कुछ मनचाहा भी न करे और सब कुछ अनचाहा भी न करे, दोनो के बीच सतुलन स्थापित कर सके। अध्ययन मे मन कम लगता है। हमने (मैंने तथा मुनि बुद्धमल्लजी ने) अभिधान चिंतामणि को कठस्थ करना शुरू किया। बडी मुश्किल से दो-तीन श्लोक कठस्थ कर पाते। हमारी रुचि इधर-उधर घूमने और बाते करने मे ज्यादा रही। हमे इस स्थिति मे बचाने के लिए मुनिवर हमारे साथ श्लोक रटते रहते। दो-तीन श्लोक रटने मे आधा घटा का समय बीत जाता, फिर दिनभर हम छुट्टी ही मनाते। हसना और मुसकाना—यह कोई महज ही आदत बन गई थी। बहुत बार ऐसा होता कि कुछ शब्दो के उच्चारणकाल मे हम हस पडते। तब हमारा पाठ बद हो जाता। हम समझते बहुत अच्छा हुआ। फिर हमे राजी कर अध्ययन शुरू कराया जाता। किशोरावस्था की कुछ जटिल आदतो को यदि मनोवैज्ञानिक ढग से न सम्हाला जाता तो शायद हम बहुत नही पढ पाते। हम जब श्लोक कठस्थ नही करते तब हमे खडा कर दिया जाता। खडा रहना मेरे लिए बहुत कठिन था। आधा घटा तक खडा रहना बहुत असह्य हो जाता, तब पानी पीने का या और किसी काम का बहाना लेकर मै इधर-उधर घूम आता। यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक नही चली, लगभग दो-ढाई वर्ष तक वह चली। उसके बाद हमे यथार्थ का कुछ-कुछ अनुभव होने लगा। जब तक यथार्थ का अनुभव नही हुआ तब तक इस कठोर अनुशासन मे रहना बडा कठिन लगा। एक बार हम पूज्य कालूगणीजी के पास पहुचे। हमने उनके चरणो मे एक विनम्र प्रार्थना रखी। हमने कहा—'गुरुदेव! तुलसी स्वामी हम पर कडाई बहुत करते है।' पूज्य गुरुदेव ने पूछा—'किसलिए?' हमने कहा—'पढाने के लिए।' फिर पूछा—'और किसीलिए तो कडाई नही करता?' हमने कहा—'नही।' तब गुरुदेव बोले—'पढाई के लिए तो वह करेगा, इसमे तुम्हारी नही चलेगी।' हम अवाक् रह गए। आए थे

आशा लिये, हाथ लगी निराशा। आचार्यवर ने कहानी सुनाई—राजा के पुत्र के सिर पर अध्यापक ने अनाज की पोटली रख दी। पढाई समाप्त हुई। विद्यार्थी की परीक्षा के लिए अध्यापक राज-सभा में जा रहा था। बीच में अनाज की दुकान आयी। गेहूं खरीदे। उनकी पोटली बांधी और विद्यार्थी राजकुमार को उसे उठाने को कहा। वह अस्वीकार कैसे करता, पर वह दब गया भार से और लज्जा से। परीक्षा हुई। वह सब विषयों मे उत्तीर्ण हुआ। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। अध्यापक से पूछा—'राजकुमार ने विद्यार्जन कैसे किया ?' अध्यापक ने कहा—'बहुत अच्छे ढग से किया, विनयपूर्वक किया।' राजकुमार से पूछा—'गुरुजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया ?' राजकुमार बोला—'बारह वर्ष तक तो अच्छा किया पर आज. .।' राजा ने पूछा—'आज फिर क्या हुआ ?' राजकुमार ने पोटली की बात सुनाई और राजा का चेहरा तमतमा उठा। पूछा तो उत्तर मिला—'वह भी पढाई का एक अग था। वह पाठ राजकुमार को ही पढाना था। आगे चलकर दड वही देगा। भार उठाने मे कितना कष्ट होता है, इसका भान कराना था। यह भान हो गया है। अब वह किसी से अधिक भार नही उठवाएगा।' राजा के पास अब कहने के लिए कुछ नही था। आचार्यवर ने कहा—अध्यापक राजकुमार से भी पोटली उठवा सकता है, तब फिर..

हमारे पास भी वापस कहने को कुछ नही था। हम चले आए। मन मे और चिन्ता पैदा हो गई कि मुनिवर को पता चल जाएगा तो वे क्या कहेगे ? पढने को कैसे जाए ? सूर्योदय हुआ। श्लोक-वाचन के लिए सकुचाते-से गए और बाचकर बिना कुछ उलाहना लिये आ गए। कई दिनों तक मन मे भय भरा रहा, पर आपने कभी हमे भयभीत नही किया। आपको उस स्थिति का पता लग गया, पर हमे यह पता नही लगने दिया कि आपको उस स्थिति का पता लग गया है। अनुशासन एक कला है। उसका शिल्पी यह जानता है कि कब कहा जाए और कब सहा जाए। सर्वत्र कहा ही जाए तो धागा टूट जाता है और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है। इसलिए वह मर्यादाओ की रेखाओ को जानकर चलता है।

हमारे सघ मे उन्ही दिनो व्याकरण के दो ग्रन्थ तैयार हुए। मुनि चौथमलजी स्वामी और पडित रघुनन्दनजी के सयुक्त प्रयास से 'भिक्षु शब्दानुशासन' तैयार हुआ और 'कालुकौमुदी' का प्रणयन मुनि चौथमलजी स्वामी ने किया। हम सबने 'कालुकौमुदी' का पाठ कठस्थ करना शुरू किया और उसकी साधनिका भी प्रारम्भ की। मेरी स्मृति और बुद्धि—दोनो का विकास हुआ नही था। मेरे और सब साथी साधनिका को हृदयगम करते जाते थे और मुझे उसे समझने मे बडी कठिनाई हो रही थी। बीदासर की घटना है। स्वरात पुल्लिग की साधनिका चल रही थी। हमे बताया गया 'जिन' शब्द की प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे 'सि' प्रत्यय का योग करने पर 'जिन' रूप बनता है। मैंने पूछा—हम 'सि' ही क्यो

जोड़ें ? इसके स्थान पर 'सि' क्यो न जोड़ें ? कितना अजीब प्रश्न था ! कोई मेधावी छात्र ऐसा प्रश्न नही कर सकता । पर मैं बहुत छोटे गाव से निष्क्रमण कर आया था और गाव मे मेधा या बुद्धि को विकसित होने का अवसर नही मिला, इसीलिए यह कठिनाई आ रही थी । आचार्य हरिभद्र ने 'ग्राम' शब्द की व्युत्पत्ति की है—जो बुद्धि आदि गुणो का ग्रास करता है, वह ग्राम है । बौद्धिक विकास के लिए एक वातावरण चाहिए । ग्राम मे वैसा वातावरण नही मिलता, इसलिए ग्राम मे रहने वालो की बुद्धि कुठिन हो जाती है । उनमे बुद्धि का बीज नही होता, ऐसा नही है । उसे प्रस्फुटित होने की सामग्री नही मिलती, यह एक सचाई है । मैं एक छोटा बच्चा था । मुझे बुद्धि के विकास और कुठा—ये दोनो अवसर नही मिले । मेरी मदता का कारण शायद अवस्था के साथ जुडा हुआ था । एक निश्चित अवस्था से पहले बुद्धि का विकास नही होना मेरी नियति को मान्य था ।

पूज्य कालूगणी जी को मैं बहुत प्रिय था । वे मुझ पर अनुशासन कम करते, करुणादृष्टि से प्लावित अधिक करते । श्रीडूगरगढ की घटना है । सर्दी का मौसम था । मै पूज्य गुरुदेव के सामने बैठा था । उन्होने मेरे भावो को पढा और पूछा--'क्या नाश्ता नही मिला ?' मैंने कहा—'नही मिला ।' 'क्या आजकल बन्द हो गया ?' मैंने कहा—'हा, अभी बन्द है ।' पूज्य गुरुदेव ने तत्काल साध्वी सोनांजी से कहा—'नाश्ता ला दो ।' टूटी हुई शृखला फिर जुड गई । नाश्ता कोई बडी बात नही थी । प्रश्न है स्नेह का, करुणा का । यदि बालक को स्नेहपूर्ण वातावरण मिलता है तो विकास की सभावनाए बढ जाती है । ताडना मे सिकुडन पैदा होती है और स्नेह मे विकास । ताडना परिस्थिति विशेष मे होने वाली विवशता है । स्नेह मनुष्य का निसर्ग है । स्नेह की भावना के साथ जल का सिचन पा एक पौधा भी लहलहा उठता है तब मनुष्य की बात ही क्या ! मैने ताडना बहुत कम पायी और स्नेह बहुत अधिक पाया । विकास का निमित्त पाने मे मै सचमुच सौभाग्यशाली रहा हू ।

पूज्य कालूगणी का एक विशेष स्वभाव था । उनके पास बैठे बाल मुनियो को वे कुछ न कुछ सिखाते रहते । एक बार उन्होने हमे सस्कृत का एक श्लोक सिखाया—

'बालसखित्वमकारणहास्य, स्त्रीषुविवादमसज्जनसेवा ।
गर्दभयानमसस्कृतवाणी, षट्सु नरो लघुतामुपयाति ।।'

इस श्लोक का कुछ अनुदान हमे मिला । हम लघुता की दिशा मे नही बढना चाहते थे । सस्कृत के प्रति हमारा अनुराग बढा और अकारण हसने की आदत भी बदलने लगी ।

एक बार उन्होने हमे दोहा सिखाया—

'डर डर गुरु डर गाम डर, डर करणी मे सार।
तुलसी डरे सो ऊबरे, गाफिल खावे मार।।'

इस दोहे ने एक भावना पैदा की। हम मुनि तुलसी से डरने लगे। मैं गोस्वामी तुलसी से परिचित नही था। मुनि बुद्धमल्लजी भी परिचित नहीं थे। हमने उसका यही अर्थ लगाया कि पूज्य गुरुदेव हमे यह सबोध दे रहे है कि जो तुलसी से डरता है वह उबर जाता है। सचमुच हमने इस सबोध को स्वीकारा और हम उबर गए।

पूज्य कालूगणी हमारे अध्ययन के बारे मे कभी-कभी जानकारी लेते थे। वे मुख्यरूप से मुनि तुलसी पर ही निर्भर थे। बीदासर की घटना है। पूज्य गुरुदेव ने सभी बाल साधुओ को हस्तलिपि दिखलाने को कहा। मेरे सहपाठी और समवयस्क सभी साधुओ की हस्तलिपि सुन्दर हो गई थी। मेरी हस्तलिपि सुन्दर नही बन पायी। मेरी हस्तलिपि जैसे ही सामने रखी गई, पूज्य गुरुदेव मुसकरा दिए। उन्होंने कोई टिप्पणी नही की। मत्री मुनि मगनलाल जी स्वामी वही बैठे थे। उन्होने कहा—नाथूजी (वे मुझे इसी सबोधन से सबोधित किया करते थे) के अक्षर तो छत पर सुखाने जैसे है। छत पर उपले सुखाए जाते है। ये अक्षर भी वैसे ही टेढे-मेढे है। यह था उनके कहने का भाव। मुझे कुछ सकोच का अनुभव हुआ। बात वही समाप्त हो गई। अन्तर्मन मे बात समाप्त नही हुई। 'मै पीछे नही रहूगा, सबसे आगे जाऊगा'—अन्तश्चेतना मे यह सकल्प जाग गया और दीक्षा-पर्याय के तीन वर्ष पश्चात् वह सकल्प बाह्य जगत् मे प्रकट होने लगा।

पूज्य कालूगणी बीकानेर राज्य के थली प्रदेश से प्रस्थान कर जोधपुर चातुर्मास करने जा रहे थे। डीडवाना पहुचते-पहुचते मेरी आखो मे 'दाने' पड गए। उपचार किया पर कोई लाभ नही हुआ। आखो से पानी बहने लगा। पाठ बिलकुल बन्द हो गया। मेरे सहपाठी साधुओ को आगे बढने का अच्छा मौका मिल गया। डीडवाना मे मुनि तुलसी को नाममाला सुना रहा था। उच्चारण मे अशुद्धिया आने लगी। मुनिवर ने उलाहने के भाव मे कहा—मैं तुम्हे आगे कुछ नही पढाऊगा। आगे का अध्ययन बन्द करो। जो ग्रन्थ कठस्थ किए हुए है, उन्हे शुद्ध करो, फिर आगे बढो।

हम विहार करते-करते लूनी जकशन पहुचे। पूज्य कालूगणी ने बालोतरा की ओर विहार किया और मेरी आखो से पानी ज्यादा गिरने लगा, इसलिए मुझे मुनि हेमराजजी के साथ जोधपुर भेज दिया। पढना बिलकुल बन्द था। मुनि हेमराजजी ने मुझे प्रोत्साहित किया—तुम प्रतिदिन कठस्थ-पाठ का जितना पुनरावर्तन करोगे उतना मैं अकित करता जाऊगा और पूज्य कालूगणी के यहा पधारने पर उन्हे सब निवेदित कर दूगा। मैंने पुनरावर्तन शुरू किया। अभिधान चिन्तामणि के पन्द्रह सौ से अधिक श्लोक हैं। मैं एक दिन मे कई बार उसका

पुनरावर्तन कर लेता। ढाई मास के पश्चात् पूज्य गुरुदेव चातुर्मास के लिए वहां पधारे। मुनि हेमराजजी ने मेरे पुनरावर्तन का लेखा-जोखा उनके चरणो मे प्रस्तुत किया। वह पुनरावर्तन कई लाख श्लोको की सख्या का हो गया था। पूज्य कालूगणी बहुत प्रसन्न हुए और मुझे साधुवाद दिया और साथ-साथ मुनि हेमराज जी को भी साधुवाद मिला। मै अपने विद्यागुरु के पास गया। मैंने पाठ के पुनरावर्तन की बात बताई। वे प्रसन्न हुए, पर पूरे प्रसन्न नही हुए। उन्हे पता था कि मैने गलतियो से भरे पाठ का ही पुनरावर्तन किया है। जब उन्हे दशवैकालिक, कालुकौमुदी का पूर्वार्ध और अभिधान चितामणि का पाठ सुनाया तो वे प्रसन्न ही नही हुए, आश्चर्य से भर गए। 'पाठ शुद्ध कैसे हुआ'—इस आश्चर्यपूर्ण प्रश्न का उत्तर कौन देता ? मैं पुस्तक पढता नही था, केवल पुनरावर्तन करता था। मुझे स्वय भी पता नही कि पाठ शुद्ध कैसे हो गया। आज उस घटना का उत्तर आसान लगता है। आखे बाह्य जगत् के साथ अधिकतम सपर्क स्थापित करती है और अधिकतम विक्षेप उत्पन्न करती है। उन दिनो आखो को सहज ही सयम हो रहा था। बाहर जाने वाली चेतना भीतर मे लौट रही थी और भीतर की सक्रियता बढ रही थी। कोई आश्चर्य नही कि जिस शुद्ध रूप मे पाठ कठस्थ किया था, उसी पाठ की चेतना जाग गई और पाठ-शुद्धि अपने आप घटित हो गई। अब मेरी अवस्था बदल चुकी थी। सबसे पीछे रहने वाला मैं अब दौड मे आगे जाने की तैयारी करने लगा। मैने निश्चय किया— अब मै सबसे आगे रहूगा। मैने अपने साथियो से पूछा कि वे कालुकौमुदी के उत्तरार्ध का कौन-सा हिस्सा कठस्थ कर रहे है। पर किसी ने बताया नही। मैने कठस्थ करने की गति तेज कर दी। चातुर्मास पूरा होते-होते मै प्राय सबसे आगे चला गया और पीछे किसी से भी नही रहा। चातुर्मास के मध्य मे एक बार कालूगणी ने हम सब विद्यार्थियो की परीक्षा ली। उसमे भी मेरा स्थान अच्छा रहा। उस सफलता ने भावी सफलताओ का दरवाजा खोल दिया। 'माढा' गाव मे पाठ के उच्चारण की परीक्षा हो रही थी। पूज्य कालूगणी स्वय परीक्षा ले रहे थे और मत्री मुनि मगनलालजी पास मे बैठे थे। कुछ विद्यार्थी साधुओ की परीक्षा हो चुकी थी। मै शौच से निवृत्त होकर कुछ विलम्ब से आया। मत्री मुनि ने कहा—नाथूजी! आओ और इस पाठ का उच्चारण करो। मैने उस पाठ को पढा और उसमे सफल रहा। मत्री मुनि बोले—आज तो यह बहुत सफल रहा है। तब पूज्य कालूगणी ने कहा—अभी बच्चा है। अभी सफलता का क्या पता चले ?

पाली मे मैने पार्श्वनाथ स्त्रोत की प्रतिलिपि की। वह प्रति पूज्य गुरुदेव के सामने प्रस्तुत थी। उन्होने उसे देखा और प्रसन्नमुद्रा मे कहा—'अब तुम्हारी लिपि ठीक हो गई है।' मुझे अपनी सफलता पर विश्वास होता गया।

पूज्य कालूगणी जोधपुर मे चातुर्मास बिता रहे थे। भाद्रव शुक्ला पूर्णिमा उनके पट्टारोहण का दिन था। हम विद्यार्थी साधु भी गुरुदेव के अभिनन्दन मे कुछ बोलना चाहते थे। हमने मुनिवर से प्रार्थना की और उन्होंने हम सबके लिए श्लोक बना दिए। मुझे श्लोक पसन्द नही आए। मैंने कहा—'आपने दूसरे साधुओं के लिए श्लोक अच्छे बनाए हैं, मेरे श्लोक उन-जैसे नही हैं।' मुनिवर ने कहा, 'तुम्हारे श्लोक अच्छे हैं।' मैं अपने आग्रह पर अडा रहा और आप मुझे समझाते रहे। आखिर मैंमाना ही नही, तब आप बोले—'आज से यह प्रतिज्ञा है कि भविष्य मे फिर तुम्हारे लिए श्लोक नही बनाऊगा।' इस प्रतिज्ञा ने मेरे लिए कविता का द्वार खोल दिया। उस आग्रह पर जब-जब मैं उस श्लोक को पढता हू तो मुझे मेरे अज्ञान पर हसी आती है। मैं मानता हू कि मुनिवर ने जो निष्ठा का वरदान देना चाहा, उसे मै समझ नही सका। मेरे न समझने पर भी उन्होने वह वरदान मुझे दे दिया। तब मैं समझ सका कि श्लोक कितना मूल्यवान् है—

'तात के पुत्र अनेक हुवै पर नन्दन के पितु एक कहावै,
ज्यू घन के बहु इच्छु हुवै पिण चातक तो चित्त मेघ ही ध्यावै।
सागर के हुवै मच्छ कच्छ बहु मीन तो चित्त समुद्र ही चावै,
त्यों गुरु के बहु शिष्य हुवै पिण एक गुरु नित शिष्य के भावै॥'

प्रत्येक व्यक्ति के मन मे विकास की, आगे बढने की भावना रहती है। एक किशोर मे भी यह भावना बीजरूप मे रहती है। उसे प्रोत्साहन मिलता है तो वह प्रस्फुटित हो जाती है। मुनिवर मुझे बार-बार कहते—तुम श्रम नही करोगे तो पीछे रह जाओगे और पूरा श्रम करोगे तो सबसे आगे जा सकते हो। पीछे रहने की बात कभी अच्छी नही लगती। मन मे एक स्पर्धा जाग गई और मैं सदा इस स्थिति मे जागरूक हो गया। एक दृढ सकल्प जाग गया—मै किसी से पीछे नही रहूगा। पूज्य कालूगणी कहा करते थे—'बातेडी की बिगडे', 'जो बातूनी होता है, बातो मे ही रस लेता है, पढने मे रस नही लेता, वह बिगड जाता है।' इस उक्ति ने मन पर चोट की और बातो मे रस कम होने लगा। मुनिवर ने कितनी बार इस सचाई को समझाया—अभी तुम बातें करोगे तो जीवन भर दूसरो के नियत्रण मे रहना होगा। इस समय अध्ययन करोगे तो बडे होने पर स्वतत्र हो जाओगे। फिर चाहे जितनी बातें करना, कोई टोकने वाला नही होगा। युक्ति-सगत बात मन मे घर कर जाती है। कोरा आक्रोश या कोरा उलाहना जहा प्रतिक्रिया पैदा करता है वहा युक्ति-सगत बात अन्त करण को छू लेती है। सचमुच आकर्षण की धारा बदल गई। मन अधिक से अधिक ज्ञानार्जन करने के लिए उत्सुक हो गया।

उन दिनो कंठस्थ करने की परम्परा बहुत प्रचलित थी। मैं एक दिन पूज्य कालूगणी के पास पहुचा। उन्होने कहा—'अभी धातुपाठ कंठस्थ किया या नही?'

मैंने कहा—'नही किया।' उन्होने कहा—'कंठस्थ करो।' मैंने उसे कंठस्थ कर लिया। मुनिश्री तुलसी ने आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण कठस्थ करना शुरू किया। पूज्य गुरुदेव ने मुझे कहा—'तुम भी उसे कंठस्थ करो।' मुझे कुछ मानसिक सकोच हुआ—मै मेरे विद्या-गुरु के साथ कैसे चल पाऊगा ? पर मुनिवर ने यही चाहा और प्राकृत व्याकरण को कठस्थ करने मे उन्होने मुझे अपना साथी बना लिया।

मैंने जोधपुर मे आखो की चिकित्सा कराई। कुछ लाभ हुआ। पर पर्याप्त लाभ नही हुआ। दानो की चुभन और पानी गिरना—ये चलते रहे। मुनिवर ने अनेक उपाय किए। वे केवल अध्ययन ही नही, जीवन की सारी व्यवस्था को सभाले हुए थे। आख का प्रश्न बहुत बडा प्रश्न है। हम लोग 'खेरवा' मे थे। आखों की चुभन के कारण नीद नही आ रही थी। मन उद्वेलित हो उठा। मन मे सकल्प और विकल्प का जाल-सा बिछ गया। सोचा, आंखो की यही स्थिति रही तो जीवन व्यर्थ ही चला जाएगा। मैं अध्ययन नही कर पाऊगा और न ही विकास कर पाऊगा। पूज्य गुरुदेव के साथ भी कैसे रह सकूगा ? क्या मुझे मुनिवर से भी अलग रहना पडेगा ? लम्बे समय तक ये सकल्प मुझे सताते रहे। फिर अचानक आस्था का स्वर जागा। रात के चार बजे होगे। मन मे अकल्पित शक्ति उतर आयी। मन ही मन मैंने कहा—मैं बिलकुल ठीक हो जाऊगा। मेरी आखो की बीमारी ठीक हो जाएगी और मै अपने लक्ष्य तक पहुच पाऊगा। दिन मे मैंने सारी बात मुनिवर को बताई। उन्होने मुझे आश्वासन दिया। मेरा मन और अधिक हल्का हो गया। उन्होंने उपचार की ओर अधिक ध्यान दिया। अनेक औषधियो का प्रयोग किया, पर लाभ नही हुआ। उदयपुर मे दानो को मिश्री से घिसना शुरू किया। उससे कुछ लाभ हुआ और बीमारी की भयकरता समाप्त हो गई। मैं अनुभव करता हू कि मेरे विद्या-गुरु ने मुझे अन्तश्चक्षु का ही दान नही किया, चर्म चक्षुओ का भी दान दिया।

मुनि छत्रमलजी व्याख्यान की सामग्री का सकलन करते थे। मेरे मन मे भी यह भावना जागी। मैंने भी उसके सकलन का निर्णय किया। मुनिवर को पता चला। उन्होने मनाही कर दी। मुझे ठेस लगी। उस समय उसकी जरूरत नही थी, पर विद्यार्थियो मे होड चलती थी। कोई एक विद्यार्थी साधु व्याख्यान की सामग्री सकलित करे तो दूसरा कैसे नही करे ? मैंने फिर आग्रह किया। मुनिवर अप्रसन्न हो गए। मै इस विषय मे बहुत जागरूक रहता कि वे अप्रसन्न न हो। पर कभी-कभार वे अप्रसन्न हो जाते तो उन्हे प्रसन्न किए बिना मुझे चैन नही मिलता। एक बार सायकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं उन्हें वन्दना करने गया। मैंने विनम्र स्वर मे कहा—'मेरी कोई भूल हुई हो तो मुझे बताए। मुझे क्षमा करे। आप अप्रसन्न न रहे।' वे नही बोले। मैं अपना हाथ उनके पैरो मे टिकाए हुए

वंदना की मुद्रा में बैठा रहा। फिर भी वे नहीं बोले। लगभग दो घटे बीत गए। प्रहर रात आ गई। सोने का समय हो गया। वे पूज्य कालूगणीजी के पास चले गए और मैं मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी के पास सोने के लिए चला गया।

मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी मुनिवर के बडे भाई थे। हमारी रहन-सहन की सारी व्यवस्था वे ही करते थे। हम दो व्यक्तियो के कठोर अनुशासन में चल रहे थे। मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी का अनुशासन भी बहुत कठोर था। वे हम लोगों पर काफी कडा नियत्रण रखते और थोडी-सी भूल होने पर बहुत अप्रसन्न हो जाते। उन्हे प्रसन्न करना भी कोई सरल काम नही था। गाय दूध देती है तो उसकी चोट भी सह ली जाती है। हमे निरतर दूध मिलने का अनुभव हो रहा था इसलिए हम उनकी अप्रसन्नता को भी सह लेते और उन्हे प्रसन्न करने मे हमे अधिक प्रसन्नता का अनुभव होता। अनुशासन मे रहने वाला व्यक्ति कितना पकता है और कैसे पकता है, इसका हमे अच्छा अनुभव है। और हमारे अनुभव से दूसरे विद्यार्थी भी काफी लाभान्वित हो सकते हैं। अनुशासन की सबसे पहली शर्त है—तादात्म्य। उसके बिना अनुशासन करने वाला और उसे सहने वाला—दोनो ही सफल नही हो सकते।

अनुशासन को मैं बहुत व्यापक अर्थ मे स्वीकार करता हू। वह केवल निषेधात्मक नही है। अवाछनीय आचरण और व्यवहार से रोकना ही अनुशासन नही है। वह उसका एक छोटा-सा पक्ष है। अनुशासन का व्यापक स्वरूप है—विवेक-शक्ति का विकास और नियत्रण-शक्ति का विकास। विवेक और नियत्रण की शक्ति का विकास होने पर व्यक्ति का जीवन स्वय शासित हो जाता है। फिर उसके लिए दूसरे का अनुशासन जरूरी नही है। अनुशासन कुठा पैदा करने की प्रक्रिया नही है। वह प्रक्रिया है आत्मानुशासन को जगाने की। हम कभी-कभार कुठा पैदा करने वाले अनुशासन की सीमा मे भी रहे, पर अधिकाशत हम आत्मानुशासन जगाने वाले अनुशासन मे ही पले। इसलिए अच्छाइयो को पकडने मे हमारी अन्तश्चेतना सदा गतिशील रही। पूज्य कालूगणी का मुझ पर बहुत अनुग्रह था। वे मेरे हितो का बहुत ध्यान रखते थे। लाडनू की घटना है। भयकर सर्दी का मौसम। हम लोग शौचार्थ जगल मे जाते थे। मै प्राय पूज्य गुरुदेव के साथ ही जाता था। एक दिन दूसरी दिशा मे चला गया। पूज्य गुरुदेव ने स्थान पर आते ही पूछा—नत्थू कहा है? सतो ने कहा—वह मुनि तुलसी के लिए होमियोपैथी दवा लाने के लिए गया है। उन्होने पूछा—सर्दी बहुत है। कबल ओढकर गया या नही? सतो ने मेरी निश्रा के उपकरण देखे। कबल वही पडा था। पूज्य गुरुदेव से निवेदन किया—कबल यही पडा है। वह ओढ़कर नही गया है। पूज्य गुरुदेव ने दो साधुओ को निर्देश दिया—'तुम कबल ले जाओ और उसे कंबल ओढ़ा दो।' इस घटना की मेरे किशोर-मन पर एक प्रतिक्रिया हुई। मन मे अनुशासन का

भाव जागा। पूज्य गुरुदेव मेरे हितों का इतना ध्यान रखते हैं तब उनका प्रत्येक आदेश-निर्देश हित की दृष्टि से ही होता है। एक बार दो कबल आए। एक मुझे लेना था और एक मुनि बुद्धमल्लजी को। दोनो एक-जैसे थे। एक बिलकुल साफ था। एक पर कुछ धब्बे थे। मैंने कहा—यह साफ कंबल मैं लूगा। मुनि बुद्धमल्लजी ने भी वैसा ही आग्रह किया। हम दोनो का आग्रह देख पूज्य गुरुदेव ने वह किसी को नही दिया। दोनों कंबल अपनी पछेवडी (चादर) से ढांक लिये। उनके केवल दो सिरे बाहर निकाले और हम दोनो से कहा—जो इच्छा हो वह एक सिरा पकड लो। हमने एक-एक सिरा पकड लिया। जो साफ-सुथरा था वह मुनि बुद्धमल्लजी के हिस्से मे चला गया। फिर भी मैं अप्रसन्न नही हुआ। सहज ही मेरे मन पर एक छाप पडी कि समता का मूल्य प्रियता से भी ज्यादा है।

मेरी गति व्यवस्थित नही थी। मैं चलता तब पैर इधर-उधर पड़ते। दोपहर के समय जब एकान्त होता तब पूज्य गुरुदेव कहते—तुम चलो। मैं चलता तब उनका निर्देश मिलता—पैर ठीक ढग से रखो। न जाने कितनी बार चलने का अभ्यास कराया। मैं मानता हू कि यह मुझे गतिमान् बनाने का ही प्रयत्न था। बहुत छोटी-छोटी बातो से जीवन का निर्माण कैसे होता है, इसे केवल बडी बातो मे विश्वास करने वाले नही समझ पाते। हम लोग स्थान से बाहर जाते है तब 'पछेवडी' के गाठ लगाकर जाते है। मैं प्रात काल पूज्य गुरुदेव के साथ बाहर जाने के लिए तैयार होकर वहा चला जाता। पूज्य गुरुदेव कहते—गाठ ठीक से नही लगी। वे उसे अपने हाथो से खोलते और फिर अपने हाथो से ही गाठ लगाते। लबे समय तक यह सिलसिला चला। इस छोटी-सी घटना ने क्या यह पाठ नही पढाया कि मन की जटिल ग्रन्थियो को खोलना हम सीख जाए और कोई गाठ पडे तो भी वह इतनी उलझी हुई न हो, जिसे खोलना कठिन बन जाए।

मालवा की यात्रा हो रही थी। सर्दी का मौसम था। हमारी सघीय व्यवस्था के अनुसार सोने का स्थान विभाग से निश्चित होता है। हम दीक्षा-पर्याय मे बहुत छोटे थे। दीक्षा-पर्याय मे बड़े साधुओ को अच्छा स्थान मिल गया और हमे सोने के लिए एक खुला स्थान मिला, जिसके कई दरवाजे थे। किवाड बिलकुल नही थे। मुनिश्री चपालालजी स्वामी को पता चला, तब वे आए और उन्होने हम सबसे कहा—अपने-अपने सिरहाने मे जो नया कपडा है, वह निकालो। हमने निकाल दिए। उन्होने कपडो को तानकर एक तबू-सा खडा कर दिया। चारो ओर से बद एक कपडे का कमरा बन गया। हमने सीखा—हर उपाय के लिए उपाय होता है। यदि उपाय की मनीषा जाग जाए तो अपायो को निरस्त करने मे कोई कठिनाई नही होती।

पूज्य कालूगणी की जन्मभूमि छापर मे मर्यादा-महोत्सव का आयोजन हो रहा था। मुनिवर वहा नही थे। शारीरिक अस्वस्थता के कारण लाडनू मे ही

रह गए थे। सुखलालजी स्वामी और मुनि अमोलकचंदजी लाडनूं से छापर आए। उन्होने आचार्यवर से प्रार्थना की—मुझे वहां भेजा जाए। आचार्यवर ने उसे स्वीकार कर लिया। साध्वीप्रमुखा झमकूजी को इसका पता चला। मेरे रजोहरण का प्रतिलेखन वे करती थी। मध्याह्न के समय मैं उनके पास गया। उन्होंने कहा—आप लाडनू जा रहे है? मैंने कहा—जा रहा हूं। वे बोलीं—फिर आपको गुरुदेव अपने पास नही रखेगे, सदा के लिए अलग विहार करने वाले साधुओ के साथ भेज देंगे। मैं कुछ असमजस मे पड गया। मैं पूज्य गुरुदेव के पास पहुचा, साध्वीप्रमुखा ने जो बात कही वह बता दी। पूज्य गुरुदेव ने मृदु मुसकान के साथ कहा—तुम तुलसी के पास लाडनू चले जाओ। कोई चिंता मत करो। मैंने उस मुनि-द्वय के साथ लाडनू के लिए विहार किया। बीच मे हम लोग एक दिन सुजानगढ़ रुके। वहा नथमलजी स्वामी का आतिथ्य स्वीकार किया। दूसरे दिन लाडनू पहुचे। मुनिवर ने तथा अन्य सभी साधुओ ने हमारी अगवानी की। अलग रहने मे मुझे जो कठिनाई अनुभव हो रही थी, उसका समाधान हो गया। अध्ययन फिर से चालू हो गया। मुनिवर को भी पूज्य कालूगणी से अलग रहने के कारण एक रिक्तता अनुभव हो रही थी। उसे यत्-किंचित् मात्रा मे भरने का श्रेय मुझे उपलब्ध हुआ, यह मै मानता हू। एक दिन की घटना है। सभी साधु गोचरी के लिए गये हुए थे। मै मुनिवर के पास बैठा था। उन्होने मुझे अध्ययन के लिए प्रेरणा दी, जीवन-विकास के कुछ सूत्र बताए और फिर कहा—तुम भी मेरे जैसे बनोगे? मैने कहा—मुझे क्या पता। आप बनायेंगे तो बन जाऊगा। मुझे दूसरे साधु बहुत भोला समझते थे। मैं भोला अवश्य था, पर वे जितना समझते थे उतना नही था। सरलता मुझे प्रिय थी। कपट, प्रपच, छलना और प्रवचना से मुझे बहुत घृणा थी। मैं सबके प्रति निश्छल व्यवहार करना पसद करता था। मै अपने प्रति, अपने हितो के प्रति सतत जागरूक था। मैंने अपने लिए कुछ सफलता के सूत्र निश्चित किए थे। मैं ऐसा कोई काम नही करूगा जो मेरे विद्यागुरु को अप्रिय लगे। मैं ऐसा कोई काम नहीं करूगा जिससे मेरे विद्यागुरु को यह सोचना पडे कि मैने जिस व्यक्ति को तैयार किया वह मेरी धारणा के अनुरूप नही बन सका। मैं किसी भी व्यक्ति का अनिष्ट चिन्तन नही करूगा। मेरी यह निश्चित धारणा हो गई थी—दूसरे का अनिष्ट चाहने वाला, उसका अनिष्ट कर पाता है या नही कर पाता, किन्तु अपना अनिष्ट निश्चित ही कर लेता है। इन सूत्रो ने मेरा जीवन-पथ सदा आलोकित किया। मुझे कभी भी दिग्भ्रान्त होने का अवसर नही मिला।

गंगापुर मे पूज्य कालूगणीजी का स्वर्गवास हो गया। समूचे संघ को वह वज्राघात जैसा लगा। मुनि तुलसी अब आचार्य तुलसी हो गए। पहले वे हम से बहुत निकट थे। अब कुछ दूर-से लगने लगे। पहले केवल हमारे थे, अब वे सबके

हो गए। ऐसा लगा, पहले जो करुणा की सघनता थी वह छितर गई। पहले उसके भागीदार हम कुछेक साधु ही थे, अब हजारो-हजारो व्यक्ति हमारे सहभागी हो गए। उनसे अलग आहार करना भी अच्छा नही लग रहा था, पर अब सह-भोज भी सभव नही था। अध्ययन की व्यवस्था भी कुछ समय के लिए गडबड़ा गई। ये सारे सधिकाल के अनुभव हैं। जैसे-जैसे समय बीता, वैसे-वैसे स्थितियो का नवीकरण होता गया।

गगापुर से विहार कर आचार्यवर बागोर पहुचे। वहा मुझे एक नया अनुभव हुआ। आदेश की घोषणा की गई—पाच मिनट के भीतर सब साधु जहा गोचरी का विभाग होता है वहा चले जाए, कोई अपने स्थान पर बैठा न रहे। हमारे सघ मे आचार्य के आदेश का पालन बडी तत्परता के साथ होता है। सभी साधु अपने-अपने पात्र लेकर उस स्थल पर पहुच गए। मैं भी पहुच गया। जिस स्थान पर गोचरी का विभाग हो रहा था उसके पास ही एक केलू का छपरा था। मैं वहा जाकर बैठ गया। शिवराजजी स्वामी ने मुझे देखा और बोले—बैठने की मनाही है, फिर तुम कैसे बैठे ? मैंने कहा—यह विभाग का स्थल है। यहा बैठने की मनाही नही है। अपने-अपने स्थान पर बैठने की मनाही थी। मैं वहा से यहा आ गया। यह विभाग का स्थल है। यहा कोई खडा रहे या बैठे, इससे आपको क्या ? वे हमारे सघ मे 'कोतवाल' कहलाते थे। वे अनुशासन की क्रियान्विति का पूरा ध्यान रखते थे। बड़े जागरूक व्यक्ति थे। मेरा तर्क बहुत साफ था। फिर भी उनके गले नही उतरा। वे आचार्यश्री के पास पहुचे, सारी घटना आचार्यश्री के सामने रख दी। आचार्यश्री ने मुझे बुलाकर कहा—तुम वहा क्यो बैठे ? मैंने अपना तर्क फिर दोहराया। आचार्यश्री को मेरा तर्क मान्य नही हुआ। उन्होने मुझे बहुत कडा उलाहना दिया। मैने विनम्रभाव से उसे सुना और सहा। मै कुछ भी नही बोला। चुपचाप अपने स्थान पर आ गया किन्तु मेरा मन प्रतिक्रिया से भर गया। मैं मन ही मन सोचता रहा—मेरा कोई प्रमाद नही हुआ। मैंने कोई गलती नही की। शिवराजजी स्वामी ने अपने आवेश के कारण मुझे फसा दिया और आचार्यवर ने भी उनकी बात को मानकर मुझे उलाहना दे दिया। यह प्रतिक्रिया लम्बे समय तक मेरे मन पर होती रही। मैं काफी समय तक इस घटना को अपने मन से नही निकाल सका। यह कोई बहुत बडी बात नही थी। पर मेरे लिए यह बडी बात इसलिए बन गई कि मेरी भावना पर दोहरी चोट पहुची। मैं कल्पना नही करता था कि आचार्यश्री की इतनी प्रियता होते हुए भी अकारण ही उनसे इतना कडा उलाहना सुनना पडेगा। दूसरी बात, मेरे मन पर एक छाप थी कालूगणी के व्यवहार की। मैंने सुना था—पूज्य कालूगणी को आचार्यों से कभी उलाहना नही मिला। मेरे मन का भी सकल्प था कि मैं भी कभी आचार्यवर से

उलाहना नहीं सुनूगा। मेरा संकल्प टूटता-सा लगा, इससे मुझे बहुत आघात पहुंचा।

मैं कोई प्रमाद न करूं, कभी उलाहना न सुनू, किसी के प्रति कोई अनिष्ट चिन्तन न करू, अध्ययन में किसी से पीछे न रहू—इन छोटे-छोटे संकल्प-सूत्रो ने मेरी चेतना के जागरण मे योग दिया, ऐसा मैं अनुभव करता हू। जीवन-निर्माण मे छोटी-छोटी बातें बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं मत्रीमुनि श्री मगनलाल स्वामी के पास गया। उन्होने सहजभाव मे दो बोल कहे, वे मेरी अहकार-मुक्ति की साधना मे सबल बन गए। उन्होने कहा—'विद्या का और गुरु-कृपा का अहकार नही होना चाहिए। हम मुनि हैं। हम किस बात का अहकार करें! मागना बहुत छोटा काम है। हम रोटी के लिए दूसरों के सामने हाथ पमारते हैं, फिर अहकार किस बात का? न जाने कितनी बार यह जीव बेर की गुठली बनकर पैरो से रौंदा जा चुका है। फिर अहकार किस बात का?' इन छोटे-छोटे बोलो ने मन की गहरी परतो को छू लिया। अहकार मेरी मृदुता पर कभी आक्रमण नही कर सका।

वि० स० २००१ का चातुर्मासिक प्रवास मैंने सरदारशहर मे किया। आचार्यश्री के पास रहकर मैं जो अध्ययन कर सकता था, वह वहा नही हुआ। चातुर्मास के पश्चात् मै फिर आचार्यवर के पास पहुचा और फिर अध्ययन का क्रम चालू हो गया। एक मुनि ने कहा—'आपने इनको अलग क्यो भेजा?' आचार्यश्री ने कहा—'इनका स्वभाव सकोचशील बहुत है। सकोच को कम करने के लिए मैंने इन्हे अलग भेजा। व्याख्यान देना बहुत जरूरी है। यहा मेरे पास व्याख्यान देने की कला भी नही सीखी जाती। इसलिए भी अलग भेजना जरूरी था।' मैं यह सारी बात एक तटस्थ श्रोता की भाति सुन रहा था। मैंने सोचा—मेरे आचार्य मेरे लिए जो भी प्रिय या अप्रिय करते है, वे किसी चिन्तन के साथ करते है, मेरे हितो को ध्यान मे रखकर करते है। इसलिए आचार्यश्री जो भी करें उसमे तार्किक बुद्धि का प्रयोग अपेक्षित नही लगता। मैं दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र का विद्यार्थी था, फिर भी आचार्यश्री के आदेशो-निर्देशो को प्राय बिना तर्क के स्वीकार करने मे सफल रहा हू। मुझे आचार्यवर पर विश्वास रहा है और वे भी मुझ पर विश्वास करते रहे है। कलकत्ता मे जापान की बमबारी हुई। तेरापथी महासभा के पुस्तकालय की हजारो-हजारो पुस्तकें गंगाशहर मे लायी गईं। आचार्यवर का वहां चातुर्मास हुआ। मुझे सस्कृत और प्राकृत की बहुत पुस्तके पढ़ने का अवसर मिला। मै मानता हू, उस चातुर्मास मे मेरे अध्ययन की नयी दिशाए उद्घाटित हुईं। मैं सायकाल प्रतिक्रमण के पश्चात् आचार्यवर की वन्दना करने गया। पास मे ही मत्री मुनि मगनलालजी स्वामी बैठे थे। वन्दना के अनन्तर उन्होने पूछा—आजकल क्या कर रहा है? मैंने कहा—कर्म-ग्रन्थ पढ रहा हू। तत्त्वार्थसूत्र की टीका पढ

रहा हूं। और भी कुछ नाम गिनाए। वे तत्काल आचार्यश्री की ओर मुड़े और बोले—महाराज! यह इतने ग्रन्थ पढ़ रहा है। मूल धारणा में पक्का तो है न? कोई खतरा तो नही है? आचार्यवर ने कहा—कोई खतरा नहीं है। सब ठीक है। विश्वास विश्वास से बढ़ता है। गुरु जब इतना विश्वास करे तो शिष्य जी भरकर उस विश्वास की सुरक्षा का प्रयत्न करता है। मैंने इस सचाई को जीवन मे अनेक बार साकार होते देखा है।

मेरे मुनि-जीवन का पाचवा दशक चल रहा है। और मेरे विद्यार्थी-जीवन का भी पाचवां दशक चल रहा है। इन पाच दशको मे आचार्यश्री तुलसी ने मुझे जितनी प्रेरणाएं दी, उतनी प्रेरणाए एक गुरु ने अपने शिष्य को दी या नही दी, यह अनुसधान का विषय है। शताब्दियो मे ही कोई विरला गुरु होता है जो अपने शिष्य को इतनी प्रेरणा देता है। मैंने केवल तेरह वर्ष के मुनि-जीवन का एक विहगावलोकन किया है। प्रेरणा के मुख्य स्रोतो का अभी स्पर्श भी नहीं हुआ है। सस्कृत और प्राकृत जैसी प्राच्य भाषाओं का तलस्पर्शी अध्ययन, आशुकवित्व, दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, साम्यवाद आदि राजनीतिक दर्शनो का अध्ययन, पश्चिमी दर्शनो का अध्ययन, आचार्य भिक्षु और श्रीमज्जयाचार्य के साहित्य का अध्ययन, जैन आगमो का शोधपूर्ण सपादन, प्रवचन की जनभोग्य शैली, जैन परपरा मे ध्यान की विच्छिन्न शृखला का अनुसधान और उसका प्रयोगात्मक रूप, प्रेक्षा-ध्यान के शिविरो का सचालन आदि-आदि अनेक बिन्दु है जो समय-समय पर मिली हुई प्रेरणाओ से दीर्घ रेखाओ मे बदले है। उन सबकी चर्चा कभी अपनी आत्मकथा मे करना चाहूगा। एक निबन्ध मे उसकी चर्चा सम्भव नही है।

आचार्यश्री ने एक कुशल शिल्पी और एक कुशल कर्मी के रूप मे एक प्रतिमा को गढा और ऐसे प्रस्तर की प्रतिमा को गढा जिसका कोई मूल्य नही था। प्रतिमा का इस प्रकार निर्माण किया कि उसे यह अनुभव भी नही होने दिया कि उसमे किसी विशिष्ट शक्ति का अवतरण या आरोपण किया जा रहा है। कोरा ज्ञान होता तो शून्य पूरा भरता नही। उसमे अहकार को अपना आसन बिछाने का अवसर मिल जाता। ज्ञान के बाद ध्यान की प्रेरणा ने उस शून्य को भर दिया। यदि कोरा ज्ञान होता, ध्यान नही होता तो तेरापथ के नेतृत्व को, सर्वोच्च पद को, उपलब्ध कर मन हर्ष से भर जाता। इस एकछत्र गरिमामय पद पर आचार्य द्वारा नियुक्ति होना एक महत्त्वपूर्ण अवसर है। इस अवसर पर अन्त करण मे समत्व का भाव जागृत रहे, यह उस सृजन की ही विशेषता है, जिसमे ज्ञान और ध्यान के तत्त्व सतुलित रहे और उनकी फलश्रुति समता के रूप मे प्रतिष्ठित रही। एक भाई ने कहा—युवाचार्य बनने के बाद भी शरीर का वजन नही बढा, यह कैसे? कोई छोटा-मोटा पद प्राप्त होता है तो भी व्यक्ति शरीर मे फूल जाता है, कुर्सी भर जाती है। इतना सर्वोच्च पद पा लेने पर भी परिवर्तन क्यों नही

आया ? मैंने स्मित के साथ कहा—आचार्यश्री ने मुझे पहले योगी बना दिया और बाद मे आचार्य बनाया। इसलिए ऐसा नहीं हो सका। 'वपु. कृशत्व'—ध्यान सिद्धि का पहला लक्षण है शरीर की कृशता। इसलिए मासल होना शायद मेरी नियति में ही नहीं है। आदमी हर्ष से मोटा होता है। पर मेरे आचार्य ने मुझे पहले ही समता में प्रतिष्ठित कर दिया, इसलिए विशिष्टता उपलब्ध होने पर हर्ष की बात भी मेरी नियति में नहीं है। मेरे सृजन की नियति है समता। इसका विकास ही मेरी दृष्टि मे मेरी सफलता और मेरे सृजन की सफलता है।

अतीत का अनावरण

वि० स० २००० मेरे जीवन मे नये उन्मेष का वर्ष है। चौबीसवे वर्ष मे प्रवेश के साथ-साथ मुझे सस्कृत, प्राकृत और दर्शनशास्त्र के अनेक ग्रन्थो के अध्ययन का सहज अवसर मिला। उसी वर्ष मैंने हिन्दी मे लिखना शुरू किया। मैं सस्कृत से एक साथ हिन्दी मे आया, इसलिए उस समय की मेरी हिन्दी सस्कृतनिष्ठ ही रही, फिर भी हिन्दी मे लिखना मुझे अच्छा लगा। कुछ मुनियो का आग्रह था कि मै 'पचीस बोल' की हिन्दी मे व्याख्या लिखू। मेरे मन मे सकोच था। हिन्दी मे मैने कभी कुछ लिखा नही था। जो कुछ लिखना होता, वह सारा सस्कृत मे ही लिखता। कभी-कभी प्राकृत मे भी लिखता। ये दोनो पुरानी भाषाए है। लोग इन्हे मृतभाषा कहते है। अतीत जीवित कैसे होगा? वह मृत ही होगा। जीवित केवल वर्तमान होता है। मै मानता हू, इसीलिए मैने हिन्दी को अपनाया। वह आज की भाषा है, इसलिए जीवित है। मै भाषा के साथ-साथ दर्शन का विद्यार्थी रहा हू। वह मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। उसे मैंने अनेकान्त के आलोक मे पढा है। अनेकान्त का विद्यार्थी किसी को सर्वथा जीवित अथवा सर्वथा मृत कैसे मान सकता है? अतीत मे वर्तमान को जीवन देने की क्षमता है, तब उसे मृत ही कैसे मान सकते है? मैने वर्तमान के साथ सपर्क स्थापित किया, पर अतीत के साथ स्थापित सपर्क को कभी कम नही किया। दोनो मे सतुलन बना रहा। मैने हिन्दी मे 'पचीस बोल' की व्याख्या लिखी और वह ग्रन्थ 'जीव-अजीव' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह मेरी पहली रचना थी हिन्दी के क्षेत्र मे और दर्शन क्षेत्र मे भी।

प्रो० हीरालाल रसिकदास कापडिया अहिंसा के बारे मे एक ग्रन्थ का संकलन कर रहे थे। उन्होने आचार्यश्री के पास एक प्रस्ताव भेजा—आचार्य भिक्षु के अहिसा सम्बन्धी विचारो को उस ग्रन्थ मे मैं देना चाहता हू। मुझे हिन्दी मे उनके विचारो का एक सकलन उपलब्ध कराए। आचार्यश्री उस समय चाड़वास

(चूरू, राजस्थान) में विराज रहे थे। उन्होंने मुझे बुलाकर पूछा—'क्या तुम हिन्दी मे निबन्ध लिख सकते हो ?' मैंने कहा—'लिख सकता हूं।' आचार्यवर ने कहा—'अहिंसा के सबंध मे आचार्य भिक्षु के विचारो पर एक निबन्ध लिखो।' मैंने आचार्यवर के आदेश को शिरोधार्य किया और कार्य प्रारम्भ कर दिया। कार्य की तात्कालिक क्रियान्विति मे मेरा विश्वास रहा है, इसलिए किसी भी कार्य को अधर मे लटकाए रखना मेरी प्रकृति मे नही था। निबन्ध लिखने का कार्य शीघ्र सम्पन्न हो गया। यह 'अहिंसा' शीर्षक से एक लघु पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित हुआ। अहिंसा के सम्बन्ध मे आचार्य भिक्षु के विचार बहुत मौलिक हैं। शुद्ध साध्य की सिद्धि के लिए शुद्ध साधन होना जरूरी है। इस सिद्धान्त पर आचार्य भिक्षु ने बहुत बल दिया। मेरा अभिमत है कि इस सिद्धान्त पर बल देने वाले और इस पर तार्किक पद्धति से विश्लेषण करने वाले भारतीय मनीषियो मे आचार्य भिक्षु का स्थान अग्रणी है। महात्मा गाधी भी इस क्षेत्र मे अग्रणी रहे है। 'अहिंसा' पुस्तिका उनके पास पहुची। उन्होने उस पर कई टिप्पणिया भी लिखी और आचार्य भिक्षु के बारे मे उनके मन मे एक जिज्ञासा भी जागी।

इन दिनो हमारे धर्म-सघ को प्रबुद्ध लोग रूढिवादी मानते थे। दूसरे सम्प्रदाय के लोग कुछ सैद्धान्तिक प्रश्न उपस्थित कर तेरापथ को व्यवहार को विघटित करने वाला बतलाते थे। इस स्थिति मे हम एक वैचारिक अवरोध का अनुभव कर रहे थे। आचार्यश्री के मन मे उस अवरोध को मिटाने की तडप जागी। उन्होने आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तो को दर्शन की भाषा और शैली मे प्रस्तुत करना शुरू किया। मुझे प्रारम्भ से ही यह सौभाग्य मिला है कि मैं उनकी हर कृति मे उनके साथ रहा। जयाचार्य को आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला तो मुझे आचार्य तुलसी का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला और साथ-साथ आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य भी मुझे उपलब्ध हुआ। आचार्यश्री ने 'जैन सिद्धान्त दीपिका' नामक एक सस्कृत ग्रन्थ लिखा। उसके एक अध्याय मे आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। दर्शन के स्तर पर सूत्र की शैली मे आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तो को प्रस्तुत करने का यह पहला प्रयत्न था। एक दिन डॉ० सतकोडि मुखर्जी को मैने यह अध्याय सुनाया। उसे सुनकर डॉ० मुखर्जी ने कहा—यह बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इतने दिन प्रकाश मे क्यो नही आया ? खेद है, आचार्य भिक्षु मारवाड मे जन्मे। यदि वे जर्मनी मे जन्मे होते तो उनका महत्त्व इम्युअल कान्ट से कम नही होता। डॉ० मुखर्जी के विचारो से मुझे एक सन्तोष का अनुभव हुआ। आचार्य भिक्षु के जिस दृष्टिकोण को आचार्यश्री तुलसी दार्शनिक शैली मे प्रस्तुत कर रहे है और मैं जिसका भाष्य कर रहा हू, वह दृष्टिकोण सारयुक्त और वर्तमान की समस्या को समाधान देने वाला है। प्रारम्भ से ही मेरी यह दृष्टि रही कि जो दर्शन या धर्म वर्तमान समस्या का समाधान

नही देता, वह उपयोगी नही हो सकता। और जो उपयोगी नही हो सकता वह चिरजीवी नही हो सकता। बासी चीज की उपयोगिता कम होती जाती है और एक दिन वह फेंक दी जाती है।

आचार्य भिक्षु ने एक सूत्र दिया था—बडे जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों को मारना अहिंसा नही है। छोटे जीवो को मारकर बडे जीवो का पोषण करना अहिंसा नही है। इस सूत्र ने मुझे बहुत आन्दोलित किया। मैंने मार्क्स और लेनिन के साहित्य को देखा और सामाजिक शोषण और असमर्थ लोगो के प्रति होने वाली क्रूरता के प्रति एक विशेष सवेदना जाग उठी। दान के नाम पर चलने वाले छद्म के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित हुआ। मैंने एक लघु पुस्तिका लिखी। उसका शीर्षक था—'उन्नीसवी सदी का नया आविष्कार।' इस पुस्तिका पर कुछ जैन पत्रों ने टिप्पणी की—'मुनि नथमलजी साम्यवादी हो गए हैं।' राजनैतिक प्रणाली के अर्थ मे मै साम्यवादी नही बना, पर मार्क्स की विचारधारा के प्रति मेरा झुकाव निश्चित ही रहा। अच्छे साध्य के लिए अशुद्ध साधन को काम मे लाया जा सकता है—इस साम्यवादी सिद्धान्त के साथ मैं कभी सहमत नही हो सका। आचार्य भिक्षु के 'शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन' की अमिट छाप मेरे मन पर अकित थी। उन दिनो गाधीजी के विचार बहुत चर्चित हो रहे थे। वे भी शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन के सिद्धान्त पर बल दे रहे थे। दार्शनिक सन्दर्भ मे आचार्य भिक्षु ने और राजनीतिक प्रणालियो के सन्दर्भ मे महात्मा गांधी ने इस सिद्धान्त पर जितना बल दिया, उतना शायद कम विचारको ने दिया। इसीलिए हरिभाऊ उपाध्याय कहा करते थे कि अध्यात्म और राजनीति की पृष्ठभूमि को अलग रखने पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी के अहिंसा सम्बन्धी विचार मे मुझे कोई अन्तर नही लगता। आचार्य भिक्षु को पढने के पश्चात् मैंने महात्मा गाधी को पढा। अहिंसा के विषय मे दोनो के विचारो मे अद्भुत समानता पायी। अहिंसा मेरा प्रिय विषय बन गया और वर्षों तक मैं इसी विषय पर लिखता रहा और जीवन मे प्रयोग भी करता रहा।

आचार्यश्री तुलसी का चातुर्मासिक प्रवास (वि०स० २०११) बम्बई मे हुआ। परमानन्द कापडिया ने तेरापथ की अहिंसा विषयक दृष्टि पर एक समीक्षा लिखी। उसमे छिछली आलोचना नही थी। आलोचना का स्तर अच्छा था। इससे पूर्व तेरापथ के अहिंसक विषयक सिद्धान्त की इस स्तर की आलोचना नही निकली थी। लेख गुजराती भाषा मे था। उसका शीर्षक था—'अहिंसा की अधूरी समझ'। आचार्यश्री तुलसी ने वह लेख पढा और मुझे बुलाकर कहा—'अब तक हमने आलोचना का प्रत्युत्तर नही दिया। पहली बार यह स्तर की आलोचना निकली है, जिसमे गाली-गलौज नही किन्तु एक चिन्तन है। अब हमे इसका प्रत्युत्तर देना चाहिए। तुम एक लेख लिखो।' मैंने उस पर 'अहिंसा की सही समझ' शीर्षक एक

लेख लिखा। श्रीचन्दजी रामपुरिया ने कापड़िया का और मेरा—दोनों लेख 'जैन भारती' पत्र में एक साथ छापे। कापड़िया ने 'प्रबुद्ध जीवन' में लिखा—'मेरे लेख में कहीं-कहीं व्यंग्य भी है, कटूक्तियां भी हैं, किन्तु मुनिश्री नथमल जी ने जो लेख लिखा है, उसमें केवल समीक्षा है, न कोई व्यग्य और न कोई कटूक्ति।' इससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। यदि मेरे मन मे अहिंसा के बीज अंकुरित नही होते तो मैं व्यग्य और कटूक्ति से शायद नही बच पाता।

मैं जैन मुनि बना। जैन दर्शन मेरे अध्ययन का विषय बना। फिर भी इसी स्वीकृति को मैं आवश्यक मानता हूं कि गाधी साहित्य से मुझे जैन धर्म को आधुनिक सन्दर्भ मे पढने की प्रेरणा मिली। मैंने एक पुस्तक लिखी। उसका नाम था—'आखे खोलो।' उसके पाच अध्याय थे। उसमे एक अध्याय था—जातिवाद। आचार्यश्री तुलसी ने उसे देखकर कहा—यह पुस्तक बाहर जाएगी तो समाज में इससे बहुत चर्चा होगी। अभी इसे रहने दो। फिर दो क्षण के चिन्तन के बाद कहा—यह वास्तविकता है। जैन धर्म मे जातिवाद के लिए कोई स्थान नही है। फिर चर्चा से क्यो डरना चाहिए? पुस्तक सामने आ गई। कुछ ऊहापोह हुआ। साथ-साथ यथार्थ को प्रस्तुत करने का मुझे सतोष भी मिला।

गाधी साहित्य के माध्यम से मैंने रस्किन और टालस्टाय को पढा तो मुझे और अधिक व्यापक सन्दर्भ मे चिन्तन करने का अवसर मिला। आचार्य भिक्षु ने सम्प्रदायातीत धर्म की नीव को बहुत मजबूत किया था। उन्होने इस पर बहुत बल दिया कि धर्म मुख्य है, सम्प्रदाय गौण। यही सूत्र अणुव्रत के प्रवर्तन का आधार बना। आचार्यश्री ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया, तब उसकी समीक्षा इन स्वरो मे हुई—आचार्यश्री जैन और अजैन—सभी को एक पक्ति मे ला रहे हैं। यदि आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण का सुदृढ आधार उपलब्ध नही होता तो काफी समस्याए सामने आती। पर उस उदार दृष्टि ने सामने आने वाली हर समस्या को चिरजीवी नही बनने दिया। अणुव्रत आन्दोलन को दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का अवसर मिला। उससे मैं बहुत लाभान्वित हुआ। अतीत के चिन्तन को वर्तमान की समस्याओं के सन्दर्भ मे देखने की एक दृष्टि मिली और कुछ मौलिक विचार स्थापित हुए। धर्म के विषय मे यह प्रसिद्ध धारणा है—धर्म करो, परलोक सुधर जाएगा। धार्मिको को वर्तमान की कोई चिन्ता नही, केवल परलोक को सुधारने की चिन्ता है। धार्मिक व्यक्ति उपासना मे विश्वास करता है, चरित्र मे विश्वास कम करता है। नैतिकता का आचरण आवश्यक नही माना जाता। नैतिकताविहीन धर्म भी चलता है। अणुव्रत आदोलन के माध्यम से बहुत सारे प्रबुद्ध विचारक व्यक्ति सम्पर्क में आए और पारस्परिक आदान-प्रदान में कालातीत और सामयिक—दोनो प्रकार की सचाइयों को समझने का अवसर मिला। अणुव्रत के मच पर सभी धर्मों और विचारधाराओं के लोग आने लगे और सभी

को सुनने का अवसर मिलता गया। उससे समन्वय की दृष्टि को बहुत बडा बल मिला। मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा। जैन दर्शन को पढा। साथ-साथ अन्य दर्शन भी पढे। अनेकान्त को पढने के कारण अन्य दर्शनो के प्रति अन्यत्व का भान नही रहा। सत्य सत्य है, फिर उसे किसी भी दर्शन ने अभिव्यक्त किया हो। यही दृष्टि निष्पन्न हुई। अब मेरे सामने दर्शन दर्शन है, सत्य सत्य है, और सब भेद गौण हैं।

एक बार मुझे प्रतिश्याय हुआ और वह बिगड गया। एलोपैथी और आयुर्वेदिक इलाज कराए पर कोई लाभ नही हुआ। स्थिति चिन्तनीय बन गई। फिर प्राकृतिक चिकित्सा का योग मिला। मैं स्वस्थ हो गया। एक प्रेरणा जागी। लूई पूने को पढा, और भी प्राकृत चिकित्सा की बीसो पुस्तकें पढी। वही से मेरे योग जीवन का प्रारभ हुआ। आसन और प्राणायाम के साथ-साथ ध्यान की रुचि भी जागृत हुई। मैने ध्वनि चिकित्सा का भी प्रयोग किया। उदात्त स्वर मे बीज-मत्रो की ध्वनि करने पर मै कुछ हास्यास्पद भी बनता रहा, फिर भी कोई अन्त प्रेरणा काम कर रही थी। मैं उस प्रयत्न को छोड नही सका। आचार्यश्री की मुझ पर अनन्त करुणा रही। मैं जो काम करता, उसमे उनका अनुमोदन और प्रोत्साहन मिल जाता। आचार्यश्री ने स्वय प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग किया। आसन, प्राणायाम और ध्यान के प्रयोगो का ही उन्होने सर्वात्मना समर्थन किया। धीरे-धीरे उन सबकी जडे हमारे सघ मे गहरी होती चली गईं।

मैं इसे निसर्ग ही मानता हू कि मेरे मन मे क्रूरता की अपेक्षा करुणा अधिक प्रवाहित है। कोई भी व्यक्ति अपने मे क्रूरता न होने का दावा नही कर सकता। करुणा और क्रूरता—दोनो धाराए हर व्यक्ति मे प्रवाहित होती रहती है—कोई बडी और कोई छोटी। असमर्थ वर्ग के प्रति समर्थ वर्ग के अतिक्रमणो की चर्चा जब-जब सुनता हू, तब-तब मन करुणा से भर जाता है। हमारी दुनिया के इतिहास मे एक बहुत बडा भाग अन्याय के इतिहास का है, यह स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही होती। रोटी, वस्त्र आदि पदार्थ सम्बन्धी कठिनाइयो को हल करने मे भी मनुष्य सफल नही हो रहा है, तब अन्याय की कठिनाइयो को हल करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। क्या यह सरल हो सकता है? यह प्रश्न आज भी मेरे लिए प्रश्न ही बना हुआ है। साहित्यिक रुचि प्रारम्भ से थी। सस्कृत मे कविताए, कहानिया लिखना चलता ही था। फिर हिन्दी मे कविताए लिखनी शुरू की। निबन्ध भी लिखे। तब हिन्दी जगत् के साहित्यकारो से सम्पर्क बढने लगा। जैनेन्द्रकुमार, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सियारामशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर', कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदि साहित्यकारो से सम्पर्क हुआ। केवल सम्पर्क ही नही हुआ, आत्मीय भाव भी बना। फिर भी मन मे एक असतोष उभरता रहता था। वह बार-बार अन्त करण को

कचोटता रहता था। क्या विचार ही अंतिम यात्रा है? क्या साहित्य-साधना ही अतिम यात्रा है? क्या इससे आगे और कुछ नही है? आधुनिक युग का व्यक्ति होने के लिए आधुनिक ढग से सोचना और आधुनिक भाव-भाषा और शैली मे लिखना पर्याप्त है। पर आधुनिकता पूर्ण सत्य तो नही है। वह एक सामयिक सत्य है। पूर्ण सत्य त्रैकालिक होता है, केवल सामयिक नही होता। एक बार हम लोग प्रभुदयाल डाबडीवाला के घर पर ठहरे हुए थे। सूर्यास्त होने को था। डॉ० राममनोहर लोहिया वहा आए। कुछ समय हम लोग बात करते रहे। सूर्यास्त हो गया। डॉ० लोहिया ने उठते हुए कहा—चलें, हम भोजन करें। मैंने कहा—सूर्यास्त हो गया। अब भोजन नही कर सकते। वे बोले—आप आधुनिक मुनि है, फिर यह कैसा प्रतिबन्ध? मैंने इसका प्रतिवाद किया। मैं आधुनिकता मे विश्वास नही करता, शाश्वत मे विश्वास करता हू। जो शाश्वत मे विश्वास करता है, उसका विश्वास आधुनिकता मे होगा ही, पर केवल आधुनिकता मे नही होगा। मै मुनित्व को प्रत्यक्ष ज्ञान की साधना मानता हू। वह त्रैकालिक के बोध से ही सभव हो सकती है। केवल आधुनिकता हमे बहुत दूर तक नही ले जा सकती। आचार्यश्री तुलसी के अत्यन्त निकट साहचर्य मे मै रहा। राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्त्ता, साहित्यकार, पत्रकार आदि सभी प्रकार के लोगो से विचार-विनियम करने का अवसर मिला। धर्म मे अति श्रद्धा रखने वाले और धर्म को अस्वीकार करने वाले, दोनो प्रकार के लोगो से सम्पर्क होता रहा, पर मैंने उनमे से बहुत लोगो को तनाव की मन स्थिति मे पाया। मुझे लगा, तनाव वर्तमान की सबसे बड़ी समस्या है। जो गलत निर्णय होते हैं, वे सब तनाव की मन स्थिति मे होते हैं, इसलिए वर्तमान मे मानव जाति को तनाव-मुक्ति का मार्ग बतलाना उसकी सबसे बडी सेवा है। मैने इसे अपना जीवन-व्रत बनाया। मुनि अपनी समस्याओ को सुलझाने के लिए जीवन की यात्रा शुरू करता है, किन्तु अपनी समस्या केवल अपनी ही नही होती, वे दूसरो की भी होती है। दूसरो की समस्या केवल दूसरो की ही नही होती, वे अपनी भी होती हैं। अपने और दूसरो के बीच मे कोई ऐसा लोहावरण नही है, जिससे एक की समस्या दूसरे मे सक्रान्त न हो। इसलिए समस्या के समाधान का मार्ग सबके लिए सुलभ होता है, इसे मैं श्रेय मानता हू। मेरी दृष्टि मे यह जीवन का सबसे बडा सृजनात्मक प्रश्न है। शायद रोटी की उपलब्धि से भी इसका अधिक मूल्य है।

अहिंसा सार्वभौम की कल्पना

अहिंसा की शक्ति से हम सब परिचित नही हैं। उसकी उपयोगिता के कुछ पहलू अस्पष्ट हैं, इसलिए हम उसे नकार रहे है। किन्तु उसकी सृजनात्मक शक्ति के प्रति हमारी आस्था गहरी नही है।

प्रत्येक शक्ति के विकास के लिए त्रिसूत्री कार्यक्रम आवश्यक होता है—शोध, प्रयोग और प्रशिक्षण। वैज्ञानिक विकास के साथ यही त्रिसूत्री कार्यक्रम जुडा हुआ है।

हम अपेक्षा करते है अहिंसा के क्षेत्र मे बलिदानी कार्यकर्त्ता मिले। इसकी पूर्ति कैसे सभव हो? जिसके नये-नये आयाम नही खोजे जाते, वह वस्तु पुरानी पड जाती है। पुरानी के प्रति कोई आकर्षण नही हो सकता। किसी भी वस्तु की सच्चाई को प्रमाणित करने की कसौटी बनता है प्रयोग।

अहिंसा की व्याख्या ज्यादा हो रही है। उसके प्रयोग नही हो रहे है। इसलिए अहिंसा के उपदेश जनता को आकर्षित नही कर रहे है।

लोग सोचते है—हिंसा मे शक्ति है, आकर्षण है। हजारो-हजारो लोग हिंसा की रणभूमि मे प्राण-विसर्जन कर देते है, पर अहिंसा की रणभूमि मे प्राणार्पण करने वाले इने-गिने लोग भी दुर्लभ हैं। इस अकन मे कोई अतिरजन नही प्रतीत हो रहा है। पर इस स्थिति के निर्माण मे प्रशिक्षण के अभाव की भूमिका को अस्वीकार नही किया जा सकता। हिंसक शस्त्रास्त्रो पर शोध, प्रयोग और प्रशिक्षण के पीछे हजारों-हजारो वैज्ञानिक और प्रशिक्षक लगे हुए है। प्रतिदिन लाखो-लाखो पुलिस के जवानो और सैनिको का अभ्यास चलता रहता है। किन्तु अहिंसा के प्रशिक्षण की कही कोई व्यवस्था नही है। और न कही उसके प्रति कोई आकर्षण उत्पन्न करने की योजना है। ऐसी स्थिति मे अहिंसा के विकास की कोई कल्पना नही की जा सकती। अहिंसक समाज की रचना मात्र एक स्वप्न बनी हुई है। उसे साकार करने के लिए अहिंसा सार्वभौम एक परिकल्पना है, एक साधन है, एक उपाय है।

हिंसा की बाढ़ को रोकने का विकल्प है अहिंसा। अहिंसा के विकास का साधन है उसका प्रशिक्षण। अहिंसा सार्वभौम माध्यम बनेगा, उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का और प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं को अहिंसा की रणभूमि मे व्याप्त करने का।

शस्त्रसज्जित सैनिक मारने की बात सोचता है। वह मरने की बात नहीं सोचता। वह मर सकता है, पर संकल्प दूसरो को मारने मे ही रखता है।

अहिंसा का प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता मरने की बात सोच सकता है, पर दूसरों को मारने की बात कभी नही सोच सकता। यह अभय के विकास की प्रक्रिया सरल नही है, फिर भी प्रयत्न के द्वारा उसे सरल और सभव बनाया जा सकता है।

अहिंसक समाज-संरचना कैसे होगी ?

अहिंसक समाज और हिंसक समाज, ये दोनो सापेक्ष शब्द है। कोई भी ऐसा नही हो सकता, जो केवल हिंसा या अहिंसा के आधार पर चल सके। जीवन-निर्वाह के लिए हिंसा करनी पडती है। अपनी, अपने व्यक्तियो और वस्तुओ की सुरक्षा के लिए हिंसा की बाध्यता आती है। इस स्थिति मे विशुद्ध अहिंसक समाज की कल्पना कैसे की जा सकती है ? समाज की रचना अहिंसा के आधार पर हुई है। यदि मनुष्य हिंसक जानवरो की भाति एक-दूसरे को खाने दौडते तो समाज का निर्माण ही न होता। एक-दूसरे के हितो मे बाधा न डालने का समझौता सामाजिक जीवन का सुदृढ स्तम्भ है। अत विशुद्ध हिंसक समाज की भी कल्पना नही की जा सकती। निष्कर्ष की भाषा मे कहा जा सकता है—समाज हिंसा और अहिंसा दोनो के योग से चलता है। कोरी अहिंसा के बल पर वह चल नही पाता और कोरी हिंसा के बल पर वह टिक नही पाता। इस दुनिया मे वही समाज अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकता है, जो शक्तिशाली है। शक्ति के स्रोत तीन हैं—अर्थ, सत्ता और धर्म। अर्थ और सत्ता ये दोनो हिंसा के आधार पर चलते है और ये जीवन की प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति करते है। धर्म का आधार है—अहिंसा। वह जीवन को उच्चता प्रदान करता है। समाज-रचना के मूल मे अर्थ और धर्म दोनो है। पर सामाजिक व्यक्ति को अर्थ जितना अनिवार्य लगता है, उतना धर्म नही लगता। उसका प्रथम आकर्षण अर्थ के प्रति, दूसरा सत्ता के प्रति और तीसरा धर्म के प्रति है। इसलिए अर्थ और सत्ता के पास जितना शक्ति-सचय है, उतना धर्म के पास नही है। इस परिस्थिति मे अहिंसक समाज की रचना का प्रश्न बहुत उलझने उत्पन्न कर देता है।

हिंसक समाज और अहिंसक समाज

इन दोनो को परिभाषा मे बाधना, इनके बीच भेदरेखा खीचना सरल कार्य नही है, फिर भी व्यवहार-सचालन के लिए ऐसा करना ही होगा। जिस समाज मे

अर्थ और काम की प्रधानता और आचार धर्म की गौणता या अवहेलना होती है, वह हिंसक समाज कहलाता है। जिस समाज मे अर्थ, काम और धर्म—तीनों की सतुलित उपासना होती है, वह अहिंसक समाज कहलाता है। हिंसक समाज में अर्थ और सत्ता अहिंसा पर आवरण डाल देते हैं। अहिंसक समाज में अर्थ और सत्ता अहिंसा से प्रभावित होते हैं। भारतीय समाजशास्त्रियों ने पुरुषार्थ चतुष्टयी का प्रतिपादन किया था, जैसे अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। अर्थ समाज के भौतिक विकास का प्रमुख साधन है। काम उसकी प्रेरणा है। अर्थ और काम का एक युगल है। धर्म समाज के आध्यात्मिक विकास का मुख्य साधन है। मोक्ष उसकी प्रेरणा है। धर्म और मोक्ष का एक युगल है। प्रथम युगल हमारी भौतिक कक्षा का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरी हमारी आध्यात्मिक कक्षा का। दोनो युगलो का अपना-अपना स्थान और महत्त्व है।

सोमदेव सूरी ने एक प्रश्न उपस्थित किया कि पुरुषार्थ चतुष्टयी मे से किस पुरुषार्थ को अधिक महत्त्व देना चाहिए? इस प्रश्न का मूल्य आज भी कम नही हुआ है। उन्होने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया वह आज मूल्यवान है। उन्होंने कहा—इनका सतुलित सेवन करना चाहिए। किसी एक का अतिसेवन करने से वह स्वय की हानि करता है और दूसरों को पीडा पहुचाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि अर्थ की अति का तात्पर्य है—काम और धर्म की क्षति। काम की अति का तात्पर्य है—अर्थ और धर्म की क्षति। धर्म की अति का तात्पर्य है—अर्थ और काम की क्षति। समाज को इन सबकी अपेक्षा है। इसलिए सामाजिक भूमिका मे किसी एक को सर्वोच्च आसन नही दिया जा सकता। ऐसा अनुभव हो रहा है कि वर्तमान समाज ने अर्थ को अतिरिक्त मूल्य दिया है। महामात्य कौटिल्य का प्रसिद्ध सूत्र है—'अर्थ एव प्रधानमिति कौटिल्य।' कौटिल्य अर्थ को ही प्रधान मानता है। इस अर्थ की प्रधानता से आज का समाज हिसा के चक्रव्यूह मे फस गया है।

हिसक समाज मे ये तत्त्व फलते-फूलते है—(१) अर्थ और सत्ता का केन्द्रीकरण, (२) स्वार्थ का उन्मुक्त प्रयोग, (३) गलत मूल्यो की स्थापना, (४) श्रम का अवमूल्यन, (५) अनैतिकता का उत्कर्ष।

अहिंसक समाज मे इन तत्त्वो को विकसित होने का अवसर मिलता है—(१) अर्थार्जन के साधनो की शुद्धि, (२) सत्ता का विकेन्द्रीकरण, (३) मूल्यो की यथार्थता, (४) श्रम का उचित मूल्याकन, (५) नैतिकता का विकास, (६) कर्तव्य की प्रेरणा, (७) स्वार्थ का विसर्जन या स्वार्थ-सतुलन।

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज—ये दो सापेक्ष इकाइयां हैं। व्यक्ति समाज का घटक और समाज व्यक्ति के हितो का सरक्षक है। व्यक्ति-विहीन समाज अस्तित्व मे

नही आता और समाज-विहीन व्यक्ति अपने अस्तित्व को सुरक्षित नही रख पाता। समुद्र जलबिंदुओ की सहति के सिवाय और कुछ नही है, पर उससे बिछुडे हुए जलबिंदु को भूमि सुखा देती है। व्यक्ति का जिस दिन समाजीकरण हुआ, उसी दिन उसने विकास की दहलीज पर पैर रख दिए। वह प्रस्तर-युग से आज अणु-युग तक पहुच गया है। व्यक्ति और समाज दोनो परिवर्तनशील सत्ताए हैं। सस्कार सिद्धान्त और परिस्थिति के आधार पर बदलते रहते हैं। सिद्धान्त और परिस्थिति समाजीकृत होते हैं। इसलिए इनका प्रभाव व्यापक होता है। सस्कार व्यक्तिगत होते हैं। इसलिए वे व्यक्ति को ही प्रभावित करते है। व्यक्ति के जीवन पर सस्कार, सिद्धान्त और परिस्थिति तीनो प्रभाव डालते है। समाज को प्रभावित करने वाले दो तत्त्व है—सिद्धान्त और परिस्थिति।

कुछ दार्शनिक मानते हैं कि परिस्थिति के परिवर्तन से समाज परिवर्तित होता है और समाज के परिवर्तन से व्यक्ति परिवर्तित होता है। व्यक्ति और समाज के बाह्य व्यवहार के परिवर्तन मे यह बात घटित हो सकती है, किन्तु व्यक्ति व्यक्ति के आन्तरिक परिवर्तन मे यह नही होती। साम्यवादी देशो मे एक विशेष सिद्धान्त और परिस्थिति का निर्माण हुआ है। उनके अनुसार वहा अर्थ पर होने वाला व्यक्तिगत स्वामित्व प्रतिबद्ध है। क्या इस प्रतिबद्धता को साम्यवादी देशो की जनता ने हृदय से मान्यता दी है? क्या उनके व्यक्तिगत स्वामित्व के सस्कार बदल गए है? क्या वहा आर्थिक घोटाले नही होते? क्या कोई साम्यवादी देश यह दावा कर सकता है कि उसकी जनता मे अनैतिकता या भ्रष्टाचार सर्वथा नही है? यदि ऐसा हो तो मानना चाहिए कि साम्यवाद मनुष्य के आतरिक परिवर्तन मे सफल हुआ है। यदि ऐसा नही है और समय-समय पर प्राप्त सवादो से यह ज्ञात होता है कि ऐसा नही है, तब मानना चाहिए कि साम्यवाद ने दडशक्ति को प्रखर बनाकर मनुष्य की प्रवृत्ति को बाध्य कर रखा है, किन्तु उसे बदलने मे सफल नही हुआ है।

मनुष्य की प्रकृति को बदलने की क्षमता यदि किसी मे है तो वह अहिसा मे ही है, अन्य किसी व्यक्ति मे नही है। अहिसा व्यक्ति की उन्मुक्त स्वतत्रता है। जो व्यक्ति उसको हृदय की पूर्ण स्वतत्रता से स्वीकार करता है वह परिस्थिति का सामना कर लेता है, किन्तु अनैतिक आचरण नही करता या कर ही नही सकता। इसका हेतु है करुणा का विकास, आत्मौपम्य की भावना का विकास। जिसके अन्त करण मे करुणा प्रवाहित नही होती, वह सही अर्थ मे साम्यवादी या समाजवादी हो सकता है, यह समझने मे मुझे कठिनाई है। और यह भी सच है कि राजनीतिक साम्यवाद की मर्यादा मे मानवीय करुणा को वह स्थान नही मिल सकता, जो सत्ता-सग्रह को मिलता है। पूजीवादी समाज अर्थशक्ति से उत्पन्न क्रूरता से पीडित है तो साम्यवादी समाज सत्ताशक्ति से उत्पन्न क्रूरता से पीडित है। मानव के प्रति

करुणा को प्राथमिकता कहीं भी प्राप्त नहीं है। वह केवल अहिंसक समाज में ही हो सकती है। अहिंसक समाज मे अर्थ और सत्ता का मूल्य सर्वोपरि नही होगा। उसमे सर्वोपरि मूल्य होगा मानवता का।

शासनमुक्त या शासनयुक्त ?

अहिंसक समाज शासनमुक्त होगा या शासनयुक्त ? यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता है। मेरे सामने जब यह प्रश्न आता है तब मेरी दृष्टि एक शास्त्रीय वर्णन की ओर चली जाती है। उसमे निरूपित है कि इसी विश्व में एक कल्पातीत नाम का लोक है। वहा दिव्य पुरुष रहते है। वे ऋद्धि और ऐश्वर्य से समान है, आयु और बल की दृष्टि से समान है। उनमे न कोई सेवक है और न कोई स्वामी। वे सब 'अहमिन्द्र' है। उनका समाज सोलह आना साम्यवादी और सोलह आना शासनमुक्त है। इस वर्णन को आप कल्पना माने या यथार्थ, यह अपनी इच्छा पर निर्भर है। यदि कल्पना भी हो तो इसका मूल्य कम नही है। साम्यनिष्ठ और शासनमुक्त समाज की रचना की जा सकती है, इसमे यह सभावना प्रस्फुट हुई है।

साम्यनिष्ठ और शासनमुक्त समाज-रचना का आधारभूत तत्त्व है—मानसिक विकास। यह विकास क्रोध; अभिमान, माया और लोभ के उपशमन से होता है। इसकी ओर पर्याप्त ध्यान दिए बिना साम्यनिष्ठ शासनमुक्त समाज-रचना की आशा नही की जा सकती। महर्षि मार्क्स ने शासनमुक्त समाज की कल्पना की। उनके अनुसार साम्यवाद की चरम परिणति शासनमुक्त समाज है। पर साम्यवाद वैसा हो नही सकता। साम्यवादी राष्ट्रो मे शासन का नियत्रण अधिक कठोर हुआ है। मेरी समझ मे इसका कारण है—मानसिक विकास की अपेक्षा साम्यवादी राष्ट्रो ने समाज के भौतिक आधार मे साम्य लाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसके मानसिक विकास की ओर ध्यान नही दिया। फलस्वरूप उनकी जनता साम्यवादी हो गई किन्तु साम्यनिष्ठ नही हुई। जिसमे साम्य की निष्ठा नही होती, वह शासनमुक्त नही हो सकता। जिनका क्रोध उपशान्त नही है, वे लोग झगडालू होने के कारण समाज को शासनमुक्त होने मे सहयोग नही दे पाते। अभिमानी मनुष्य दूसरो को हीन मानकर वर्गभेद उत्पन्न कर देते हैं। मायी मनुष्य दूसरो को ठगते रहते है। लोभी मनुष्य अपने हितो की पूर्ति के लिए दूसरो के हितो का विघटन कर डालते है। जिस समाज मे उच्चता और हीनता, ठगाई और अपने स्वार्थों को प्राथमिकता देने की मनोवृत्ति होती है, वह शासनमुक्त कैसे हो सकता है ? यदि महर्षि मार्क्स भौतिक व्यवस्थाओ के समीकरण के साथ आन्तरिक परिवर्तन की आध्यात्मिक प्रक्रियाओ को जोड़ देते तो अवश्य ही साम्य का वाद साम्य की निष्ठा मे बदलकर शासनमुक्त होने की ओर अग्रसर हो जाता।

अहिंसक समाज मे भौतिक व्यवस्थाओं के समीकरण के साथ आन्तरिक परिवर्तन की आध्यात्मिक प्रक्रिया समन्वित होगी, इसीलिए वह शासनमुक्ति की ओर सतत गतिशील होगी।

व्यक्तिगत स्वामित्व

शासनमुक्त समाज की रचना मे सबसे बडी बाधा है व्यक्ति की सग्रह-परायण मनोवृत्ति। हर आदमी अर्थ का सग्रह करता है और उस पर अपना स्वामित्व स्थापित करता है। क्या अहिंसक समाज मे यह व्यक्तिगत स्वामित्व मान्य हो सकता है? प्रवृत्ति का विकास प्रेरणा से होता है। अपने सुख व अपने स्वत्व की प्रेरणा बहुत प्रबल होती है। वैयक्तिकता को विलुप्त करने से विकास की प्रेरणा क्षीण हो जाती है। अत अहिंसक समाज मे व्यक्तिगत स्वामित्व एक सीमित अर्थ मे ही मान्य हो सकता है। अहिंसक समाज का दूसरा पहलू होगा अपरिग्रही समाज। अहिंसा और अपरिग्रह एक-दूसरे से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकते। अहिंसक समाज का मुख्य सूत्र है—इच्छा-संयम, सग्रह-सयम और प्रवृत्ति का विकेन्द्रीकरण। इच्छा का विस्तार, अर्थ का केन्द्रीकरण और हिंसा—ये सब साथ-साथ चलते है।

अहिंसक समाज का सदस्य व्यक्तिगत धन कितना रखे, यह सख्या निर्धारित करना बड़ा जटिल है। इसका सरल सूत्र यह हो सकता है—जितनी आवश्यकता, उतना संग्रह। एक मनुष्य श्रम कर धन का अर्जन करता है, वह बहुत बडा सग्रह नही कर पाता। किसी मनुष्य मे व्यावसायिक बुद्धि प्रबल होती है। वह बुद्धि-बल के सहारे विपुल धन कमा लेता है। श्रमिक की आवश्यकता श्रम से नियमित होती है, अत वह यथार्थ होती है। बौद्धिक की आवश्यकता भी बौद्धिक हो जाती है। उसकी कही कोई सीमा नही होती। फिर 'जितनी आवश्यकता उतना सग्रह' इसका क्या अर्थ होगा? अहिंसक समाज का सदस्य श्रमिक या बौद्धिक होने से पहले सयमी होगा। अत: वह अवास्तविक आवश्यकताओ का अबार खडा नही करेगा। उसका सग्रह दो नियामक तत्त्वो से नियन्त्रित होगा—(१) अर्जन के साधनो की शुद्धि, (२) विसर्जन।

अहिंसक समाज मे साधन-शुद्धि का साध्य से कम मूल्य नही होगा। अत अहिंसक समाज का सदस्य अर्जन के साधनो की शुद्धि का पूर्ण विवेक रखेगा। वह व्यवहार मे प्रामाणिक रहेगा—(१) किसी वस्तु मे मिलावट कर या नकली को असली बताकर नही बेचेगा। (२) तोल-माप मे कमी-बेशी नही करेगा। (३) चोर-बाजारी नही करेगा। (४) राज्य-निषिद्ध वस्तु का व्यापार व आयात-निर्यात नही करेगा। (५) सौंपी या धरी (बन्धक) वस्तु के लिए इनकार नही करेगा।

अर्जन के साधनों की शुद्धि रखते हुए उसे जो अर्थ प्राप्त हो, वह उसके लिए अग्राह्य नहीं होगा। अहिंसक समाज की आवश्यकता व्यक्तिगत संयम के द्वारा नियन्त्रित होगी। अतः उसका सदस्य अतिरिक्त अर्थ का विसर्जन कर देगा। वह विसर्जित अर्थ सामाजिक कोष के रूप मे संगृहीत होगा। समाज-कल्याण के लिए उसका उपयोग होता रहेगा। भगवान् महावीर ने अहिंसा व्रती के दो सूत्रों का प्रतिपादन किया था—(१) अल्प आरम्भ, (२) अल्प परिग्रह। वर्तमान की भाषा में अल्प आरम्भ लघु व्यवसाय या लघु उद्योग और अल्प अपरिग्रह का अर्थ आवश्यकतापूरक व्यक्तिगत स्वामित्व हो सकता है। अहिंसक समाज में महा-आरम्भ (बृहत् व्यवसाय या बृहत् उद्योग) और महा-परिग्रह (विपुल संग्रह) व्यक्तिगत नही होगे। उनका समाजीकरण दण्डशक्ति के आधार पर नहीं, विसर्जन के आधार पर होगा।

तीन भूमिकाएं

खाना स्वाभाविक लगता है। नही खाना स्वाभाविक नही लगता। खाने का समय न खाने के समय की अपेक्षा बहुत थोडा होता है। खाना शरीर की जरूरत है, इसलिए प्राणी खाता है। जरूरत पूरी होने पर वह नही खाता, यह उसका हित है, अत वह खाना छोड देता है—खाने पर नियन्त्रण कर लेता है। नियन्त्रण शक्ति कम होती है, तो वह पेटू बन जाता है, जरूरत पूरी हो जाने पर भी खाता ही रहता है। यह विकार पक्ष है। परिमित खाना स्वभाव-पक्ष है। आरोग्य-संवर्धन के लिए स्वभाव-पक्ष का प्रतिरोध करना, नही खाना, भूख सहना—यह हित पक्ष है। समाज की सारी वृत्तियां इन तीनो पक्षो मे समा जाती हैं। कानून या विधि-विधान व्यक्ति को विकार-पक्ष से स्वभाव-पक्ष की ओर अग्रसर करता है। व्रत स्वभाव-पक्ष से हित-पक्ष की ओर जाने की साधना है या यू कहना चाहिए—विकार और स्वभाव मे विरोध होता है, तब सामाजिक विधि का निर्माण होता है तथा स्वभाव और हित मे विरोध होता है तब आध्यात्मिक या नैतिक व्रतो की साधना अपेक्षित होती है। विकार, स्वभाव और हित को परिभाषा की संज्ञा मे अतिमात्रा और अमात्रा कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप वासना की अति मात्रा-पूर्ति विकार है। वासना की परिमित मात्रा-पूर्ति शरीर का स्वभाव है। वासना-विजय या वासना की अमात्रा हित है। स्वभाव की दृष्टि से विकार अकर्तव्य है और हित की दृष्टि से स्वभाव अकर्तव्य है। शरीर-स्वभाव की दृष्टि से अति मात्रा मे खाना अकर्त्तव्य है पर आवश्यक व उपयोगी खाना अकर्तव्य नही है। परन्तु हित की दृष्टि से परिमित खाना भी अकर्तव्य हो जाता है। दूसरे के लिए पहले का त्याग (उत्तरवर्ती के लिए पूर्ववर्ती का त्याग) कर्तव्य की विशेष प्रेरणा से ही होता है। व्यक्ति मे विवेक जागरण का उत्कर्ष होता है, तभी वह

स्वभाव के लिए विकार का और हित के लिए स्वभाव का त्याग करता है।

जिस ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा हो, वहा उसका कर्तव्य माना जाए तो अकर्तव्य जैसा कुछ शेष ही नही रहता। शोषण, सग्रह और सत्ता की ओर मनुष्य की जैसी स्वत स्फूर्त प्रेरणा होती है, वैसी असग्रह के प्रति नही होती। किन्तु यह विकार के मोहक आवरण से ढकी हुई स्वाभाविक प्रेरणा है, इसलिए यह अकर्तव्य है। वैध ढग से व्यापार, परिग्रह और अधिकार प्राप्ति की जो स्वाभाविक प्रेरणा होती है, उसके पीछे आवश्यकता या उपयोगिता की सामान्य भावना होती है, इसलिए वह सामान्य कर्तव्य है। अपरिग्रह और असत्ता समाज के वर्तमान मानस मे स्वाभाविक प्रेरणा-लभ्य नही है, इसलिए ये प्रधान कर्तव्य है। अणुव्रती समाज-व्यवस्था मे ये तीन भूमिकाए होगी—अकर्तव्य का वर्जन, सामान्य कर्तव्य का नियन्त्रण, प्रधान कर्तव्य का विकास।

प्रधान लक्ष्य

जीवन की आवश्यकताए नही छूटती—यह निर्विकल्प है। विकल्प उनके पूर्ति-क्रम मे होते है। पूर्ति की पद्धति सामाजिक होती है, उसके पीछे उसकी दार्शनिक मान्यताए होती है। इच्छा पर नियन्त्रण करना सभी समाजो मे मान्य होता है। यह समाज की एकरूपता है। नियन्त्रण का तारतम्य और उसके प्रेरक हेतु सब मे एकरूप नही होते। नियन्त्रण के चार प्रकार है—(१) भौतिक, (२) राजनीतिक, (३) सामाजिक, (४) नैतिक या आध्यात्मिक। उनके प्रेरक हेतु क्रमश ये है—प्रकृति-भय, राज्य-भय, समाज-भय और आत्मपतन-भय।

इनमे पहले तीन भय बाहरी और आखिरी भय आन्तरिक है। प्रकृति, राज्य और समाज की मर्यादा का उल्लघन करने वाला उनके द्वारा दण्ड पाता है। इसलिए दण्ड की आशका हो, वहा उनकी मर्यादा का पालन और जहा वह न हो वहा मर्यादा की अवगणना भी हो जाती है। आत्मिक-नियन्त्रण दण्ड प्रेरित नही होता। वह व्यक्ति का अपना आन्तरिक विवेक-जागरण है। इसलिए उसमे बाहर-भीतर का द्वैध नही होता। प्रकाश या तिमिर, परिषद् या एकान्त मे बुराई से बचने की समवृत्ति हो जाती है, यही आध्यात्मिक भय है। यह भय रखने वाला बाहर की किसी भी शक्ति से नही डरता। सही माने मे वह अभय है। अहिंसक समाज-व्यवस्था मे नियन्त्रण का प्रेरक हेतु आत्मपतन का भय है।

आवश्यकताए अधिक रहे, वैसी दशा मे नैतिक निष्ठा बन नही सकती। उनके बिना अहिसा केवल औपचारिक हो जाती है। इसीलिए आवश्यकताए कम करना भी अहिंसक समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है। अधिक आवश्यकताए निर्वाह-मूलक नही होती। वे इच्छा पर नियन्त्रण न कर सकने की स्थिति मे होती है। यह रोग का मूल है। इच्छा पर नियन्त्रण नही होता, तब आवश्यकताए बढ़ती हैं।

जब आवश्यकताए बढ़ती हैं, नैतिक निष्ठा कम होती है। नैतिक निष्ठा कम होती है, अहिंसा औपचारिक बन जाती है। औपचारिक अहिंसा से वह शान्ति नहीं मिलती, जो उससे मिलनी चाहिए। इसलिए अहिंसक समाज-व्यवस्था का सबसे पहला या प्रधान लक्ष्य है—इच्छा का नियन्त्रण।

क्या अहिंसक समाज रक्षा के लिए पुलिस और सेना पर निर्भर होगा या उसे उनकी अपेक्षा नहीं होगी? इस प्रश्न पर मानवीय प्रकृति तथा समग्र विश्व के सदर्भ मे विचार किया जा सकता है। देश की आंतरिक सुरक्षा का दायित्व पुलिस परओर बाहरी आक्रमण की सुरक्षा का दायित्व सेना पर होता है। अहिंसक समाज की स्थापना होने पर आतरिक मामलो में सेना के हस्तक्षेप की आवश्यकता नही होगी और पुलिस की आवश्यकता भी कम-से-कम होगी। अहिंसक समाज मे अणुव्रत का यह व्रत अनिवार्यत पालनीय पोगा—"मैं किसी पर आक्रमण नही करूगा और आक्रामक नीति का समर्थन भी नही करूगा।" अहिंसक समाज मे सेना आक्रमणकारी नही होगी। उसका काम केवल अपनी सीमा की सुरक्षा करना ही होगा। पुलिस और सेना से मुक्त समाज की कल्पना प्रिय बहुत है पर व्यवहार की भूमिका मे उसका अवतरण अल्पकाल और साधारण प्रयत्न साध्य नही है। निष्कर्ष की भाषा मे निकट भविष्य मे उसकी सम्भावना नही है।

मूल्यो का परिवर्तन

अहिंसक समाज की सरचना के सामने सबसे बडी समस्या है—मूल्यो का परिवर्तन। श्रम, वस्तु और सग्रह के मूल्य बदले बिना अहिंसक समाज-रचना की सभावना नही की जा सकती। अहिसक समाज की स्थापना मे सबसे बडी बाधा है स्वार्थ। वह वैयक्तिक बडप्पन और सुखानुभूति की प्रेरणा है। उसे कैसे बदलें? क्या जनसाधारण किसी सैद्धान्तिक प्रेरणा को सामाजिक स्तर पर स्वीकार करने को तैयार हो सकता है? इसमे भी हित-साधन की भावना कुछ ही लोगो मे जागृत होती है। अधिकाश लोग अपने हित-साधन की चेष्टा मे लगे रहते हैं। इस समस्या का आधारभूत आश्वासन यह है कि मानव-स्वभाव सतत गतिशील और विकासशील है। यदि समाज की धारा को एक ही धारा मे प्रवाहित किया जाए तो स्वार्थ-सयम की बात उसके संस्कारो मे रूढ हो सकती है। इस कार्य की निष्पत्ति मे आध्यात्मिक वातावरण, आशिक रूप मे सामाजिक दबाव और सत्याग्रह अत्यन्त उपयोगी हो सकते हैं। स्वार्थ-शासित समाज मे नैतिकता, श्रम और स्वावलंबन का अवमूल्यन हो जाता है। करुणा-शासित समाज में नैतिकता, श्रम और स्वावलबन का मूल्य बढ़ जाता है।

अहिंसा की समस्याएं

शोषण, गरीबी, बेकारी, तनाव और शस्त्रीकरण—आज की सार्वभौम समस्याएं हैं। राजनीतिक जीवन-प्रणालियो के आधार पर इनके समाधान खोजे गए है और खोजे जा रहे है। पर समस्याए आज भी विकट है। समस्याए परिस्थिति की उपज हैं और समाधान भी परिस्थिति मे ही खोजा जा रहा है। परिस्थिति को अस्वीकार करने का कोई कारण नही है। वह प्रत्यक्ष सत्य है। उसे झुठलाया नही जा सकता।

हिंसा और अहिंसा दो खेमे बन गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो एक-दूसरे को परास्त करने की प्रतीक्षा मे है। यह अच्छी स्थिति नही है। ये दोनो एकागी दृष्टिकोण है। एकांगिता मे सचाई नीचे चली जाती है और सघर्ष उभरकर सामने आ जाता है। आज वास्तव मे ही हिंसा और अहिंसा के बीच सघर्ष है। यह वाछनीय नही है। हिंसा जीवन की अनिवार्यता है, यह सर्वसम्मत सत्य है। क्या अहिंसा जीवन की अनिवार्यता नही है? हिंसा के बिना जीवन नही चल सकता, यह सचाई है तो यह इससे बडी सचाई है कि अहिंसा के बिना जीवन चल ही नही सकता, एक दिन भी नही चल सकता। हम इस सचाई को न भूले कि हिंसा अहिंसा के कधे पर चढकर ही चल रही है। हिंसा और अहिंसा दोनो हैं, यह समस्या नही है। समस्या यह है कि हिंसा जितनी मात्रा मे चल रही है, उतनी मात्रा मे अनिवार्य नही है। अहिंसा जितनी मात्रा मे अनिवार्य है, उतनी मात्रा मे वह नही है। यह मात्रा का असतुलन है, इसे सतुलित करना आज की जरूरत है। अहिंसा मे आस्था रखने वाले इस कार्य मे लगें, यह आज की माग है।

हिंसा और अहिंसा का असतुलन अतर्राष्ट्रीय जगत् पैदा कर रहा है। हिंसा की सहारक शक्ति बहुत बढ गई है। अहिंसा के छोटे-मोटे प्रयत्न उसे कम कर सके, यह सभव नही है। हिंसा को बढावा देने के लिए जितने प्रयत्न हो रहे हैं, उनकी तुलना मे अहिंसा के विकास के लिए होने वाले प्रयत्न नगण्य है।

हिंसा मे जितना आकर्षण है, उतना अहिंसा मे नही है। पर उसके प्रति

हमारा सबसे बड़ा आकर्षण यह है कि उसके बिना मनुष्य जाति का अस्तित्व ही खतरे मे पड़ जाता है। खतरा जैसे-जैसे बढ़ रहा है, वैसे-वैसे अहिंसा के प्रति ध्यान आकर्षित हो रहा है। हिंसा की प्रखरता ने अहिंसा को फिर से उपस्थित किया है। इस स्थिति का लाभ उठाना जरूरी है।

हम हिंसा को एक स्वतत्र प्रवृत्ति माने हुए है। अहिंसा की असफलता का यह पहला चरण है। हिंसा का मूल कारण है आर्थिक दुर्व्यवस्था। इस पर विचार किए बिना हम अहिंसा का मूल्यांकन नहीं कर सकते। हिंसा और परिग्रह इन दोनो मे परिग्रह का स्थान पहला है, हिंसा का स्थान दूसरा है। इसी प्रकार अहिंसा और अपरिग्रह इन दोनो मे अपरिग्रह का स्थान पहला है, अहिंसा का स्थान दूसरा है। अहिंसा परमो धर्म की रट ने सचाई पर पर्दा डाल दिया। मनुष्य का शोषण करने वाला भी अपने आपको अहिंसक मान सकता है। यह अहिंसा की अवमानना ही है, यदि 'अपरिग्रह परमो धर्म' का स्थान पहला और 'अहिंसा परमो धर्म' का स्थान दूसरा होता तो अहिंसा अधिक तेजस्वी बन पाती।

अहिंसा की तेजस्विता प्रकट होनी चाहिए। सृजनात्मक शक्ति और प्रतीकात्मक शक्ति के बिना उसकी सभावना नही की जा सकती। आज हमने अहिंसा को कायरता का प्रतीक मात्र बना रखा है। अहिसक आदमी मे त्याग, बलिदान और मरने की तैयारी नही है।

अहिंसा के विषय मे पुनर्विचार की आवश्यकता है। उसका कार्यक्रम आधुनिक समस्याओ के सन्दर्भ मे आयोजित है। शस्त्रीकरण जैसी भयंकर समस्या के प्रति विश्व-चेतना को जागृत करना, आर्थिक व्यवस्था की विषमता से होने वाली समस्याओ और उनमे फलित होने वाली हिंसा के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित करना, मानसिक तनाव और अपराधी मनोवृत्ति के मूल मे पनपने वाली हिंसा के विषय मे अनुसधान करना और उनकी रोकथाम के लिए उपाय सुझाना आदि-आदि अहिसा को तेजस्वी बनाने के उपाय है। अहिंसा के लिए सवेदनशीलता का विकास जरूरी है, पर आज केवल उसी के आधार पर अहिंसा को व्यापक और शक्तिशाली नही बनाया जा सकता। वैज्ञानिक युग की पृष्ठभूमि को समझकर अहिंसा का नया आयाम उद्घाटित किया जा सकता है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हिंसा व्याप्त है—भोजन से भाव तक। हिंसा को रोकना सभव नही है। जीवन मे अनावश्यक हिंसा अधिक चलती है। मनुष्य प्राणी-जगत् के प्रति सवेदनशील और जागरूक नही है, इसीलिए उसमे हिंसा का भाव प्रबल है। लड़ाई, युद्ध जैसे बड़े सघर्ष हमे चिंतित करते हैं। पर हिंसा के बीज से हम चिंतित नही हैं। छोटी-छोटी हिंसाए बड़ी हिंसा को जन्म देती है, इस सचाई का अनुभव करना अहिंसा की दिशा मे एक कदम हो सकता है। जो मानसिक तनाव घरेलू झगडा पैदा करता है, वही मानसिक तनाव युद्ध पैदा करता है। मानसिक

तनाव को मिटाने का कार्यक्रम चलाना अहिंसा के विकास का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

आहार-शुद्धि विश्वशान्ति की दिशा मे एक शक्तिशाली अभियान है। आकाक्षा, क्रूरता और साम्राज्यवादी मनोवृत्ति ये सब भोजन से जुड़े हुए हैं। मासाहार इन सब सस्कारो को सरक्षण देता है। अणुव्रत के स्तर पर इस सचाई को समझा जा सकता है।

पूरे विश्व मे अपराधी मनोवृत्ति बढ रही है, अपराध बढ रहे हैं। उनकी रोकथाम के लिए शस्त्रबल और आरक्षीबल का प्रयोग बढ रहा है। यह समस्या के समाधान का तरीका नही है। मनुष्य की भावधारा को बदले बिना अपराधो की बाढ को नही रोका जा सकता। अहिसक लोगो द्वारा मनुष्य की भावधारा को बदलने की दिशा मे कोई प्रभावी कदम नही उठ रहा है। घटना को रोकने मे जितनी दिलचस्पी है, उतनी घटना के कारणो को रोकने मे नही है। अहिसा परिणाम के साथ जुडी रहेगी, तब तक स्थिति मे परिवर्तन सभव नही है। उसे प्रवृत्ति के साथ जोडना जरूरी है। प्रवृत्ति बदलने पर परिणाम अपने आप बदल जाता है। अहिसा का विचार अधिक-से-अधिक लोगो तक पहुचे तो नये वातावरण के निर्माण मे योग मिलेगा, जनता वास्तविकता से परिचित होगी।

अहिंसा तेजस्वी कैसे हो ?

अहिसा की चर्चा बहुत हुई है। सौभाग्य है इस भूमि का जहा अहिंसा के स्वर तरगित होते रहे है। साबरमती का यह आश्रम भी उन तरगों से तरगित है। कोई भी ध्वनि या तरग व्यर्थ नही जाती है। चिरकाल तक वह अपना अस्तित्व बनाए रखती है। फिर इस वैज्ञानिक युग मे इस बात को न मानने का कोई कारण नही कि यह आश्रम उन तरगो से तरगित नही है। आज उस ध्वनि-तरग का एक प्रयोग किया जा रहा है। अहिसा के एक महान प्रयोक्ता आचार्यश्री तुलसी उसी आश्रम मे एक सकल्प के साथ उपस्थित है।

बहुत बार यह प्रश्न होता है कि अहिसा का विकास होना चाहिए। जब-जब हिसा की बाढ आती है, अहिसा की माग प्रबल हो जाती है। किन्तु एक बात हम भूल जाते है कि अहिंसा एक निष्पत्ति है, कोई मूलभूत कारण नही। हम हमेशा निष्पत्ति को ज्यादा चाहते है, उसकी पृष्ठभूमि मे पलने वाली सामग्री को नही चाहते। यह एक बहुत बडी विडम्बना है। अहिंसा के साथ यह नियति न जाने क्यो जुडी ? अहिसा का जीवन हम जीना चाहते हैं, किन्तु इसकी पृष्ठभूमि मे जो समस्या है, उसका सामना करना नही चाहते। अहिसा को तेजस्वी बनाने की बात आती है तो मैं सोचता हू कि अहिसा शब्द को ही सामने लाने की बात नही रहेगी, उसके पीछे क्या करणीय है, उस पर भी हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। अहिसा सार्वभौम की परिकल्पना के पीछे यही बात जुडी हुई है कि किस प्रकार का मनोभाव विकसित किया जाए कि अहिसा अपने आप अवतरित हो पूरी तेजस्विता के साथ।

अहिसा के विकास के लिए गहरी बात है हृदय-परिवर्तन की। प्राचीन काल से लेकर आज तक हृदय-परिवर्तन का अपना मूल्य है। हिंसा मे विश्वास करने वाले लोग भी इन बातो पर बहुत महत्त्व देते हैं कि जब तक 'ब्रेनवाश' नही किया जाता, तब तक आदमी को बदला नही जा सकता। तो, ब्रेनवाश आखिर क्या है? हृदय-परिवर्तन ही तो है। मस्तिष्क की धुलाई, मस्तिष्क का परिवर्तन, यह तो

नितान्त अपेक्षित माना जाता रहा है। केवल डडे के बल पर ही शासन चलाने वाले भी जानते हैं कि समाज को चलाया नही जा सकता। समाज कोई जानवरो का समूह नही, जिसे डडे से हाका जा सके।

दो महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—हृदय-परिवर्तन और साधन-शुद्धि मे विश्वास। अहिंसा के क्रम मे ये दो आधारभूत क्रम है। किन्तु हम मात्र शब्दो को पकडते हैं। यह नही जानते कि हृदय-परिवर्तन कैसे होता है? इसकी प्रक्रिया क्या है? साधन-शुद्धि मे हमारी आस्था कैसे बढे? यह जो प्रक्रिया की विस्मृति हुई है, अहिंसा सार्वभौम की कल्पना मे इसी पर सबसे ज्यादा बल दिया गया था। जब तक मनुष्य मे आस्था बल नही जागेगा, तब तक अहिंसा की संभावना नही की जा सकती। सबमे गहरी बात है आस्था का बल और समर्पण। समर्पण भी एक महान शक्ति के प्रति और एक महान लक्ष्य के प्रति।

प्राचीन मिस्र देश मे दास प्रथा थी। वहा गुलामो की बिक्री होती थी। एक दिन बाजार मे गुलामो की बिक्री हो रही थी, बोलिया लगाई जा रही थी तो एक महात्मा उधर से निकले। पूछा तो बताया गया कि गुलामो की बिक्री हो रही है। महात्माजी एक दास के पास गए और पूछा—तुम क्या करोगे? उत्तर मिला—जो मालिक कहेगा। क्या खाओगे? जो मालिक देगा। कहा रहोगे? जहा मालिक कहेगा। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर—मालिक की इच्छा। महात्मा रो पडा। बोला—एक दास मे इतना समर्पण, और मै भगवान की प्राप्ति मे निकलता हू, किन्तु आज तक भगवान के प्रति इतना समर्पित नही हो सका।

दूसरी बात, अहिंसा के विकास के लिए चाहिए अभय। जब तक अभय का विकास नही होगा तब तक अहिंसा की चर्चा ही व्यर्थ है। जो व्यक्ति डरता रहता है, वह कभी अहिंसा को तेजस्वी नही बना सकता।

तीसरी बात है सद्भावना का विकास। मैत्री या प्रेम का विकास। अपने विरोधी के प्रति भी मन मे पूरी सद्भावना जिसके नही होगी, वह सफल अहिंसक नही हो सकता। महात्मा गाधी ने बहुत गहरी भेदरेखा खीची थी पापी और पाप के बीच मे। पाप या बुराई के प्रति घृणा का भाव हो सकता है किन्तु व्यक्ति के प्रति नही, पापी के प्रति नही। जब इस सद्भावना का विकास होता है, तभी अहिंसा की सभावना की जा सकती है। आज तो मुझे लगता है कि धार्मिको मे, अहिंसा के समर्थको मे भी इतनी गहन सद्भावना की बात दिखाई नही देती। यदि होती तो जातीयता, साम्प्रदायिकता आदि के ताप से हिन्दुस्तानियो का मानस सतप्त नही होता। सद्भावना के लिए अनिवार्य है कष्ट-सहिष्णुता का विकास। जो कष्ट-सहिष्णु नही, वह अहिंसा के पथ पर चल नही सकता। अहिंसक व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी कष्ट-सहिष्णुता का विकास करता है और समय पर अहिंसा के लिए आने वाले बडे से बडे कष्ट को झेलने की वह क्षमता रखता है।

आचार्य भिक्षु अहिंसा के एक बहुत बड़े व्याख्याकार ही नहीं, प्रयोक्ता भी थे। उनके लिए जयाचार्य ने लिखा है—'मरण धार सुध मग लियो।' उन्होंने अहिंसा के पथ पर चलने का सकल्प लिया तो इस प्रकल्पना के साथ कि प्राण दे दूंगा पर इस मार्ग से कभी विचलित नहीं होऊंगा। इस संकल्प के लिए उन्होंने इतनी कठिनाइया झेली कि उन्हे हर आदमी झेल नहीं सकता।

यह आन्तरिक बल का विकास, वीरता, पराक्रम, कही भी हिंसा के सामने घुटने न टेकने का प्रबल सकल्प, अदम्य आत्म-विश्वास—ये अहिंसा की शर्तें है। इनका विकास किए बिना अहिंसा को तेजस्वी बनाने की बात संभव नही है। प्रश्न होगा, यह कैसे सभव है? इसी पर तो हमे विचार करना है। आदमी कर सकता है। आदमी की क्षमता मे पूरा विश्वास है, यदि वह अपनी क्षमता को जान सके। आज के मनोवैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि अभी तक मनुष्य के मस्तिष्क का पाच-छह प्रतिशत ही विकास हो पाया है। शेष भाग को भी जागृत और विकसित किया जा सकता है। इस बिन्दु पर आकर हमारे सामने अहिंसा के शोध की, प्रयोग की और प्रशिक्षण की एक अपेक्षा आ जाती है।

आज अहिंसा के विषय पर बात करने वाले भी इस बात को नही जानते कि अहिसा की प्रकृति क्या है? अहिसा कैसे काम करती है? जब तक अहिसा के काम करने की शैली से परिचित नही होगे, अहिसा का विकास कैसे कर पाएगे? अहिसा कब और कैसे काम करती है, इस विषय मे जो लोग प्रश्न करते है, उन्होने भी यह अनुभव किया है कि इस पर जितने शोध की अपेक्षा है, उसका अश मात्र भी नही हो पाया है। अहिंसा का सबसे ज्यादा विकास हुआ भारतवर्ष में। यहा अहिंसा के बारे मे काफी चिन्तन हुआ। आज नये सन्दर्भ मे यह चिन्तन होना चाहिए कि अहिंसा को कैसे सफल बनाया जाए?

अहिसा के प्रश्न पर गभीरता से चिन्तन करना होगा। केवल अहिंसा पर भाषण और उपदेश देने से कुछ नही होगा। हिंसा के विकास के समर्थन मे बडे ही अजीबोगरीब तर्क दिए जाते हैं। जब इन घातक शस्त्रो के निर्माता राष्ट्रो के सामने प्रश्न होता है कि इतने शस्त्रो का विकास क्यो? उनका कितना सुन्दर तर्क है कि शान्ति-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए शस्त्रो का विकास किया जा रहा है। यानी शस्त्र का निर्माण शान्ति के लिए किया जा रहा है। जब सतुलन रहेगा तो युद्ध नही होगा। जब वह शक्ति-सतुलन बिगड जाएगा—एक राष्ट्र शस्त्रो का अबार लगाएगा, दूसरा पिछड जाएगा तो युद्ध छिडेगा। यह शक्ति-सतुलन ही विश्व-शान्ति का सबसे बडा आधार है। कितना सुन्दर तर्क है यह तथाकथित शान्ति के समर्थको का। हिंसा के समर्थन मे इतने तर्क, प्रयोग, इतनी खोजे जो आदमी कर रहा है, उसकी तुलना मे तो बेचारी अहिसा दयनीय-सी एक ओर खड़ी है।

अहिंसा का प्रश्न समूची मानव जाति से सबद्ध है। अहिंसा की केवल दुहाई देने से कुछ नही होगा। प्रयोगात्मक रूप से इस पर कुछ करने की अपेक्षा है। या तो कुछ करें, नही तो इस पर सोचना ही छोड दें, धोखा तो नही होगा कम-से-कम। अहिंसा को धोखा देना सारे ससार की मानव जाति को धोखा देना है।

इस सारी स्थिति से बचने के लिए परिकल्पना की गई है कि अहिंसा के क्षेत्र मे कुछ सक्रिय प्रयोग किया जाए। कुछ क्रियात्मकता हो, केवल पुराने पाठो को न दोहराया जाए। यह अहिंसा सार्वभौम की परिकल्पना आज उपस्थित हो रही है उस पुण्यभूमि मे जहा यह स्वर कभी गुजित हुआ था। अहिंसा सार्वभौम इस परिकल्पना के साथ जो नया कार्य शुरू कर रहा है, वह अहिंसा के गीत गाने का नही होगा, बल्कि अहिंसा की तेजस्विता की पृष्ठभूमि मे मानवीय गुणो का, मानवीय सम्बन्धो के विकास की प्रक्रिया का होगा।

इस अवसर पर मैं बडी गभीरता के साथ अनुभव कर रहा हू कि आज का दिन अहिंसा के इतिहास मे फिर एक नया दिन होगा। जिस प्रकार गाधीजी ने जो प्रयोग दिए, जैसे असहयोग, प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास, सविनय अवज्ञा आदि, ये सब नयी अवधारणाए थी, इनसे अहिंसा तेजस्वी बनी थी। मेरा विश्वास है कि अहिंसा मे विश्वास करने वाले लोग इस सन्दर्भ मे गभीरता से चिन्तन करेगे और अपनी अधिक-से-अधिक शक्ति का इसमे नियोजन करेंगे।

संवेदनशीलता : एक अपेक्षा

हमारी कोई दूसरी समस्या नही है। समस्या व्यक्ति स्वय है। हमारी प्रवृत्ति हो गई है कि हम समस्या दूसरे मे देखते है, दूसरे मे अनुभव करते है, अपने आप मे समस्या का अनुभव नही करते जबकि सारी समस्याओ का बिन्दु व्यक्ति बना हुआ है। व्यक्ति ही सबसे बडी समस्या है। अगर हम इस समस्या के समाधान तक पहुच जाए तो शायद बाहर की काल्पनिक समस्याओ मे जाने की जरूरत भी नही होगी। कहा जाता है कि लोग दु:ख का अनुभव करते है और उसका समाधान चाहते है। लोग दु ख का अनुभव कहा करते है ? अगर दु ख का अनुभव करते तो दु ख छूट जाता। आदमी इतनी गहन मूर्च्छा मे बैठा है कि वह अनुभव ही नही करता कि मैं बीमार हू। बीमार अपने आपको बीमार अनुभव नही करता। जिस दिन वह ऐसा अनुभव करने लग जाए तो स्वस्थ बनने मे विलम्ब नही होगा।

मै तीसरे नेत्र मे विश्वास करता हू। देखने के लिए दो आखे है। आखो का काम हमारे सामने है। यहा से सारी समस्याए पैदा हो रही है। एक आख का काम है प्रियता का सवेदन और दूसरी आख का काम है अप्रियता का सवेदन। हमारी दुनिया समाप्त। इससे आगे हमारी कोई पहुच नही है। हमारे जगत् की सीमा है प्रियता और अप्रियता का सवेदन। हम जब समस्या के समाधान की बात करे, बीमारी को समाप्त करने की बात करे तो हमे इस बात पर भी विचार करना होगा कि हमे तीसरा नेत्र चाहिए। तीसरी आख चाहिए। जब तक आदमी का तीसरा नेत्र नही खुलेगा, तब तक बन्धुओ, समस्या का समाधान नही होगा।

कितना प्रयास हो रहा है ! सारी सरकारें जनता की समस्या को सुलझाने के लिए उलझ रही हैं। कितने अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, समाजसेवी समस्या को सुलझाने मे लगे हुए हैं। कितने धर्म-गुरु समस्या को सुलझाने के लिए तत्पर हो रहे है। किन्तु समस्या उलझती ही चली जा रही है। कारण स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य का तीसरा नेत्र नही खुलेगा, तब तक समस्या का समाधान नही होगा। स्थिति तो यह है कि समस्या को सुलझाने वाले स्वय उसमे उलझे हुए हैं। अपेक्षा

है कि तीसरा नेत्र खुले और हम यथार्थ का अनुभव कर सकें। व्यक्ति और समाज दो हमारे सामने हैं। व्यक्ति समाज से अपने आपको स्वतन्त्र मान बैठा है और समाज को व्यक्ति की चिन्ता नही है। बडी उलझन है।

आज की सबसे बड़ी समस्या है व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का विकास। हमारा घोष समाजवाद का है किन्तु हम बन रहे हैं व्यक्तिवादी। कितना स्वार्थ ? परमार्थ से तो हमारा पीछा ही छूट गया। परमार्थ से कोई सम्बन्ध ही नही रहा। न जाने कितने धर्म के आचार्य जैन आचार्य हो, बौद्ध आचार्य हो, वेदान्त के आचार्य हो, अध्यात्म और परमार्थ की गाथाए गाते हो, किन्तु आज तो लगता है कि परमार्थ बहुत पिछड गया। आज व्यक्ति व्यक्तिवादी बन गया और सारा दृष्टिकोण व्यक्तिवादी बन गया।

इस स्थिति मे सबसे बडा उपाय है अध्यात्म-चेतना का जागरण। मैं मानता हू कि युग-चेतना का जागरण भी आज यही है। आचार्य तुलसी युगप्रधान आचार्य है, युगद्रष्टा हैं, युग को बदलने वाले तथा देखने वाले है। जो व्यक्ति युग को बदल सकता है, वह युग की धारा को बदल सकता है। आज कोई भी व्यक्ति आए, किन्तु आध्यात्मिक चेतना को जगाए बिना युग की धारा को नही बदल सकता। छोटे आदमी से लेकर उच्चतम सत्ता मे बैठे आदमी तक मे भी स्वार्थ काम कर रहा है। पहले स्वार्थ अपने घर-परिवार तक ही सीमित था, किन्तु अब स्वार्थ बहुत व्यापक बन गया है। दल के लिए स्वार्थ, पार्टी के लिए स्वार्थ, सब चीज के लिए स्वार्थ। इस स्वार्थ के वातावरण मे एक आचार्य का अभिनन्दन क्या कोई विसगति वाली बात नही है ? मैं अभिनन्दन करने वालो से पूछना चाहता हू। जो लोग स्वागत करने के लिए तैयार है, जिन्होने स्वागत किया है, वे लोग कही विरोधाभास को तो नही पाल रहे है ? कही विसगति को तो पैदा नही कर रहे है ? हमारे जीवन मे एक सामजस्य होना चाहिए। स्वय से प्रश्न पूछना है कि क्या किसी आचार्य का अभिनन्दन करना कोई तुक है, सगति है ? मुझे तो समाधान नही मिलता। बोलना और कहना भी एक धन्धा बन गया है। उपदेश सुनने वालो की कमी नही। वे तो पूरी तरह अपना अधिकार जमाए हुए है। पहले तो शायद उपदेश देने का अधिकार धर्म-गुरुओ को ही था, आज तो वह अधिकार इतना व्यापक हो गया कि वर्तमान का सबसे बडा उपदेशक राजनेता बन गया। बडी समस्या पैदा हो गई। इस स्थिति मे अपेक्षा है पुनर्विचार की। आचार्य तुलसी का यहां आना, चाहे और कही जाना, एक उद्देश्य से होता है और वह है पुनर्विचार।

मैंने आचार्यश्री को बहुत निकट से देखा है, सुना है। मैं कह सकता हू कि आचार्यश्री धर्म के झूठे आश्वासनो को तोड रहे है। राजनैतिक आश्वासनो पर भरोसा नही। सामाजिक कार्यकर्ताओ पर भरोसा नही। किन्तु भारतीय जनता

को धर्म के आश्वासन पर भरोसा है। धर्म के द्वारा परलोक को सुधारने का आश्वासन मिलता है। वर्तमान की बात छोड दें। उसकी चिन्ता भी लोगों को नही है। परलोक सुधारने की चिन्ता है। आचार्य तुलसी इस आश्वासन को तोड़ रहे हैं। लोग पूछते हैं कि धर्म-क्रान्ति का स्वरूप क्या होगा ? आचार्य तुलसी ने जिस धर्म-क्रान्ति की बात की, उसका पहला चरण यही है कि जिसको आश्वासन मान बैठे हो, उस भ्राति को तोड डालो। उस आश्वासन को समाप्त कर दो।

आज हम धर्म से चित्त की शुद्धता, पवित्रता नही माग रहे हैं। हमारा आश्वासन यह है कि धर्म करो, परिवार सुखी होगा, बीमारी नही आएगी और पैसा खूब मिलेगा। यह है हमारे धर्म की अवधारणा। ज्योति पर इतनी राख आ गई कि उसका कही साक्षात्कार भी नही हो रहा है। आचार्य तुलसी ने इस आश्वासन को तोडने का भरपूर प्रयास किया है। आचार्य तुलसी ने, युग के साथ जो अपने को नास्तिक मान बैठे थे, उन्हे आस्तिक घोषित कर दिया। आज आचार्य तुलसी ने नास्तिको की कतार खडी कर दी है।

बन्धुओ ! जरूरत है तीसरे नेत्र की। मिले कैसे ? एक छोटा-सा लडका भीख माग रहा था। एक भाई ने कहा—यह लो एक रुपया देता हू। पर एक बात पूछना चाहता हू। तुम अभी छोटे हो। बच्चे हो। लोगो से पैसा मागते हो। आंख क्यो नही माग लेते ?

उस भिखारी लडके ने बहुत ही मार्मिक उत्तर दिया। उसने कहा—बाबूजी ! लोगो के पास पैसा है, इसीलिए पैसा माग लेता हू। आख उनके पास है कहा जो उनसे मागू। सबसे बडी समस्या है चक्षुदान की। तीर्थंकर के लिए कहा गया कि वे चक्षुदान देने वाले है। सबसे बडा व्यक्ति वह होता है, जो चक्षुदान देता है। आख की जरूरत है आज के ससार मे। इन दो नेत्रों से काम चलने वाला नही है। तीसरे नेत्र की जरूरत है। अतीन्द्रिय चेतना का विकास यानी तीसरे नेत्र का जागरण। जब तक वह नही होगा तब तक आचार्यश्री तुलसी का अभिनन्दन करने मे हमे विसगतियो का ही अनुभव होता रहेगा।

सामाजिक क्षेत्र हो, आर्थिक क्षेत्र हो, धार्मिक क्षेत्र हो, कोई भी क्षेत्र हो, उस पर आज पुर्नविचार करने की जरूरत है। धार्मिक क्षेत्र मे तो सबसे अधिक विचार की अपेक्षा है। मानते चले जा रहे हैं। धर्म के क्षेत्र मे सब कुछ मानने के आधार पर चल रहा है। इस मानने का कही चरम बिन्दु ही दिखाई नही पड़ता। कोई सीमा ही दिखाई नही देती।

आज करुणा की धारा सूख गई है। करुणा होती है तो अनेक बुराइया स्वत. ही दूर हो जाती हैं। आचार्यश्री इस भूमि पर ऐसा कोई प्रयोग करें कि वह

भारतीय धारा पुन प्रवाहित हो जाए। बौद्धिकता ने भावात्मक स्रोत को सुखा दिया है। सवेदनशीलता का कोई अवकाश नही रहा। इसीलिए समाज हड्डियो का ढाचा मात्र रह गया है। आचार्यप्रवर का अहमदाबाद-आगमन भले ही अल्प-काल का है, किन्तु वह इतना मूल्यवान होगा कि निश्चित ही कोई नया आयाम खुलेगा, नयी दिशा हमारे सामने प्रकट होगी, यही मेरी मगल-भावना है।

नया जन्म लें

हर युग की अपनी समस्याएं होती हैं। आज की भी अपनी समस्याए है। आदमी सदा अपनी समस्या का समाधान खोजता है और खोजता रहा है। तो क्या वर्तमान की समस्या भी और समाधान भी वर्तमान का, यही पर्याप्त है या इसके सिवाय दूसरा भी कोई विकल्प हमारे सामने है?

मैने पढा अमेरिका की एक पत्रिका 'टाइम्स' मे कि अब सिंगापुर, चीन आदि मे कन्फ्यूशियस को फिर लाया जा रहा है। यानी कि वर्तमान समस्या का समाधान अतीत मे खोजने का प्रयत्न किया जा रहा है।

हमे महावीर को समझना है तो शाश्वत और अशाश्वत को समझना होगा। अतीत और वर्तमान, दोनों को समझना होगा। हमारी कुछ समस्याए शाश्वत-वादियो ने उत्पन्न की है और कुछ समस्याए अशाश्वतवादियो ने उत्पन्न की हैं। जो केवल शाश्वत मे विश्वास करते है, उन्होने समस्याए पैदा की हैं। जो केवल वर्तमान को मानते है उन्होने भी समस्याए पैदा की हैं और जो केवल अतीत को पकडे बैठे है, उन्होने भी। समस्या का समाधान किसी एकागी दृष्टिकोण मे नही होता। सबसे पहले हमारी समझ सही होनी चाहिए, अन्यथा समाधान नही होगा।

एक सेठ ने अपने माली से कहा—सुबह के चार बज गए, बगीचे मे पौधो की सिचाई करो। माली बोला—बरसात बहुत हो रही है। मालिक ने कहा—इसमे कौन-सी कठिनाई है, छाता ले जाओ और पानी सीचो।

वह नही समझ सका कि जब बरसात हो रही है तो फिर सिंचाई क्यो की जाए? छाता लेने की जरूरत क्या है? पर जब दृष्टिकोण मे क्षमता नहीं होती समस्या का सही आकलन करने की तो समस्या तक पहुंच ही नहीं होती।

कुछ लोगो मे समस्या के प्रति एक सहज दृष्टिकोण होता है, क्षमता होती है पर दृष्टिकोण विपर्यय मे चला जाता है तो भी समाधान नही मिलता।

बरसात बहुत तेज थी। पूरा आगन पानी से भर गया और नौकर भीतर

आने की तैयारी करने लगा। मालिक ने कहा—सावधान रहना, पानी कमरे के भीतर न आ पाए। वह बोला—आप चिन्ता न करें, दरवाजे मे ताला लगा है, चाबी मेरे पास है, मेरी स्वीकृति के बिना कोई भी भीतर नही आ सकता।

जब हमारा दृष्टिकोण सही नही है तो समस्या का समाधान नही हो सकता। महावीर को मानना पर्याप्त बात नही है, छोटी बात है। महावीर को जानना, उससे आगे की बात है। जो लोग मान्यता के घेरे मे बैठे हैं, वे महावीर को नही समझ सकते। महावीर को जानना बडी बात है, पर वह भी अन्तिम बात नही है। अन्तिम बात है महावीर को जीना। जिन लोगो ने दर्शन को माना है, स्वीकृति दी है, वे दर्शन के साथ न्याय नही कर सकते। जब तक दर्शन को जीया नही जाता, तब तक उसका कोई बहुत मूल्य नही होता। महावीर ने स्वय साधना का जीवन जीया था। वे किसी दर्शन को लेकर नही चले, किसी मान्यता को लेकर नही चले। साधना का जीवन जीते हुए उसमे से जो तत्त्व निकला वह महावीर का दर्शन बन गया।

सबसे बडी समस्या यह है कि परतंत्रता का एक चक्र चलता है दुनिया मे और वह स्वतत्र रूप से जीने नही देता। महावीर की प्रथम घोषणा है—'प्रत्येक आत्मा स्वतत्र है। किसी को किसी पर हुकूमत करने का कोई अधिकार नही है।' यह स्वतत्रता का महान आदर्श भगवान महावीर ने सम्पूर्ण मानव समाज के सामने प्रस्तुत किया जो आज भी बहुत मूल्यवान बना हुआ है।

इसी प्रकार स्वतत्रता की भी अपनी समस्या है। जहा स्वतत्रता होगी वहा भिन्नता भी होगी, विचार-भेद होगा। आदमी यत्र नही है। हर व्यक्ति अपने चिन्तन मे स्वतत्र है तो भिन्नता स्वाभाविक है। समस्या तब पैदा होती है जब स्वतत्रता सृजन करती है भिन्नता का। और भिन्नता विरोध के लिए बनाई जाती है। इस समस्या के समाधान के लिए महावीर ने समता का दर्शन दिया। बीच मे आने वाली भिन्नता स्वय समाप्त हो जाएगी। वह हमारे लिए शृगार बनेगी, बाधक नही। हमारी पांचो उगलिया स्वतत्र है। यदि ये पाचो एक हो जाती तो आदमी का सारा विकास ठप्प हो जाता। आदमी का सारा विकास हो रहा है इसीलिए उसे दस उगलिया प्राप्त है। यह विचार-भेद, चिन्तन-भेद, सम्प्रदाय-भेद महावीर के दर्शन के अनुसार कोई अस्वाभाविक प्रक्रिया नही है। इसे कभी मिटाया भी नही जा सकता।

आदमी जब तक आदमी है, उसे जब तक सोचने का अधिकार है, अपने पैरो पर जब तक चलने का अधिकार है तब तक इस भिन्नता को कभी मिटाया नही जा सकता। मैं तो कभी-कभी सोचता हू कि यदि यह भिन्नता दुनिया से मिट जाए तो यह दुनिया इतनी कुरूप हो जायेगी कि इसे देखने को किसी का मन नही करेगा। भिन्नता होना बहुत आवश्यक है हमारे सौन्दर्य के लिए। भेद के आधार

पर ही सत्य, शिवं, सुन्दरं की परिकल्पना की जा सकती है। बगीचे मे एक ही प्रकार के फूल-पौधे हों तो वे किसी को आकर्षित नही कर सकते। भेद कोई बुरा नहीं। वह बुरा तब बनता है जब हम निरपेक्ष बन जाते हैं। महावीर ने इस समस्या के समाधान के लिए सापेक्षता का दर्शन दिया। हर आदमी एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। न केवल आदमी बल्कि प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। हमारी विचार-तरगें, हमारी वाणी की तरगें, ससार की तरगो से जुडी हुई हैं। आदमी कही से कटा हुआ नही है। दुनिया मे ऐसी कोई शक्ति नही जो पदार्थ को तोड सके, भिन्न कर सके। सारा विश्व एक शृखला मे जुडा हुआ है। इसी आधार पर आचार्य उमास्वामी ने लिखा था—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्', जीव का स्वभाव है एक-दूसरे का आलम्बन बनना, सहारा बनना। यह 'स्ट्रगल फार सरवाइवल' या 'स्ट्रगल फॉर एक्जिसटेंस' वाली बात अहिंसा के क्षेत्र मे मान्य नही हो सकती। आदमी ने अहिंसा के आधार पर विकास किया है, एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करने के आधार पर विकास किया है।

आज की यह विचारधारा बन गई है कि 'या मैं या तुम'। या तो पूंजीवाद या साम्यवाद। दोनो साथ नही चल सकते। सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना इसीलिए हुई कि विरोधी विचारधारा वाले राष्ट्र भी एक साथ रह सकें, विकास कर सकें। प० नेहरू, डॉ० राधाकृष्णन् ने महावीर जयन्ती के अवसर पर कहा था—आज यह जो पूरा लोकतत्र जीया जा रहा है, महावीर के आधार पर जीया जा रहा है।

वर्तमान की समस्या के समाधान के लिए हमारी दृष्टि वर्तमान पर ही न रहे, वह पीछे की ओर भी जाए। अतीत मे भी हमारी समस्या के बहुत से समाधान छिपे हुए है। उनका साक्षात्कार करें। महावीर जन्म-जयन्ती के दिन हम भी नया जन्म ले। नया जन्म लेकर आगे बढ़े, तभी महावीर जयन्ती मनाना सार्थक होगा और हमारा नया जन्म भी बहुत मूल्यवान बन जाएगा।

जिज्ञासितं : कथितं

[युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने और प्रेक्षाध्यान पद्धति का प्रवर्तन करने के बाद महाप्रज्ञजी की यह पहली गुजरात-यात्रा थी। यहा की जनता ने आपके विचारो को ध्यान से सुना, समझा और प्रेक्षा के आलोक मे जीवन को देखने का प्रयत्न किया। गुजरात-यात्रा के विषय मे कुछ जिज्ञासाए साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी के मन मे उभरी और उन्होने युवाचार्यश्री से एक साक्षात्कार लिया। उसका अविकल सकलन प्रस्तुत है।—स०]

महान यायावर आचार्यश्री तुलसी ने एक लाख किलोमीटर मे अधिक धरती को पाव-पांव चलकर माप लिया। देश के अनेक प्रान्तो की धूलि आपके पुण्य चरणो का स्पर्श पाकर धन्य हो उठी। अपनी लम्बी यात्राओ के क्रम मे आपने ईस्वी सन् १९५३ एव १९६७ मे अहमदाबाद मे क्रमश अल्पकालीन और चातुर्मासकालीन प्रवास किया। सोलह वर्ष के बाद आप फिर ईस्वी सन् १९८३ मे अहमदाबाद पधारे। सोलह वर्ष के इस अन्तराल मे अहमदाबाद के लोक-जीवन मे कितना अन्तर आया तथा इस प्रवासकाल मे वहा क्या कुछ प्रभाव पड़ा ?

इस सम्बन्ध मे अधिकृत जानकारी पाने के लिए मैंने युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ से बातचीत करने की इच्छा प्रकट की। मेरे प्रथम अनुरोध पर ही युवाचार्यश्री ने स्वीकृति और समय साथ-साथ दे दिया। अपराह्न मे पाच बजे का समय था। मैं युवाचार्यश्री के कक्ष मे पहुची। वहा कुछ भाई अपनी जिज्ञासाओ और समस्याओं के बारे मे समाधान पा रहे थे। मुझे देखते ही वे उठ खडे हुए। यद्यपि मेरी चर्चा मे कोई गोपन रहस्य नही था, फिर भी कक्ष इतना छोटा था कि उसमे अधिक व्यक्ति अच्छे ढग से नही बैठ सकते थे। इसलिए काफी लोग बाहर चले गए। कुछ भाई और सन्त तथा हम तीन साध्विया और युवाचार्यश्री—बस इतने ही साक्ष्य थे हमारी उस वार्ता के। औपचारिक बातचीत के लिए थोड़ा भी अवकाश

नहीं था, इसलिए मैंने बिना किसी भूमिका के अपना पहला प्रश्न प्रस्तुत कर दिया :

—युवाचार्यपद का गरिमापूर्ण दायित्व ओढ़ने के बाद आप पहली बार गुजरात आए हैं, अहमदाबाद आए हैं। आप आचार्यप्रवर के साथ-साथ यहां आए हैं, इसलिए यह आपकी स्वतन्त्र यात्रा नही है। फिर भी आपकी सोच आचार्यश्री के चिन्तन-बिन्दु से भिन्न नही हो सकती। इस दृष्टि से मैं जानना चाहती हू कि अहमदाबाद-यात्रा का उद्देश्य क्या है ?

"यात्रा हमारा जीवन-व्रत है। जो जीवन का अग बन जाए, उसका कोई अतिरिक्त उद्देश्य नही होता। पर हमारी अहमदाबाद-यात्रा का निश्चित ही कोई उद्देश्य है। उस उद्देश्य की पृष्ठभूमि पर विचार करता हू तो गुजरात की आध्यात्मिक धरती मेरे सामने आ जाती है। इस उर्वरा मे अध्यात्म के बीज सहज रूप से अंकुरित और पल्लवित हो जाते है। यहा का प्रबुद्ध वर्ग धर्म और अध्यात्म के प्रति नैसर्गिक निष्ठा से प्रणत है। उसके मन मे जिज्ञासाएं है और आशाए है कुछ करने की। गुजरात की इस पुण्य धरती से अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान जन-जन तक पहुचे तथा इनके द्वारा सामाजिक और मानसिक समस्याओ को समाधान मिले, यही एकमात्र उद्देश्य हो सकता है मेरी जानकारी के अनुसार अहमदाबाद आने का।"

युवाचार्यश्री के उन शब्दो की प्रतिध्वनि कक्ष की दीवारो से टकराकर मेरे कानो तक पहुची। उससे कक्ष की खामोशी मे जो सरसराहट पैदा हुई, एक नये प्रश्न ने आकृति धारण कर ली। उस आकृति का अनावरण करते हुए मैंने पूछा

—आप अहमदाबाद से अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान को जन-जन तक पहुचाना चाहते है तथा सामाजिक और मानसिक समस्याओ का समाधान करना चाहते है। उस दृष्टि से अहमदाबाद मे दो मास का प्रवास काफी प्रभावी प्रतीत हो रहा है। यदि आपको यह काम आगे बढाना है तो आप यहा चातुर्मासिक प्रवास क्यो नही कर लेते ?

"यह सही है कि यहा की जनता मे प्रेक्षाध्यान के प्रति आकर्षण है। यह भी सही है कि हम इस क्रम को आगे बढाना चाहते हैं और यह भी सही है कि यहा चातुर्मास करने से काम मे काफी गति आ सकती है। यदि आचार्यवर पहले से बालोतरा-चातुर्मास के लिए वचनबद्ध नही होते तो शायद यहा चातुर्मासिक प्रवास के लिए सोचना ही पडता···"

युवाचार्यश्री अपनी बात पूरी करे, उससे पहले ही मैंने अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा—"मेरा मतलब आचार्यश्री के चातुर्मास से नही है। क्योंकि

प्रेक्षाध्यान की दृष्टि से आपकी उपस्थिति को लक्षित कर मैंने उपर्युक्त प्रश्न किया था।"

मेरी इस टिप्पणी पर एक क्षण मुसकराते हुए युवाचार्यश्री ने अपनी राय प्रकट करते हुए कहा—"जब आचार्यश्री बालोतरा जा रहे है तब मैं भी वहा जाना चाहता हू और आचार्यश्री के साथ ही रहना चाहता हू। यद्यपि आचार्यवर ने मुझे कहा था कि तुम यहा रहो, हम यों ही काम चला लेंगे। पर मैंने निवेदन कर दिया कि आप तो मेरे बिना काम चला लेंगे किन्तु मैं आपके बिना काम नही चला सकता।"

कितना सहज और निरभिमानिता का विचार। एक क्षण तो मैं देखती ही रह गई और इस बात को भूल गई कि मुझे कुछ और भी पूछना है। ज्यो ही मैं सचेत हुई, चालू क्रम की शृखला मे एक और प्रश्न जोडकर मैंने पूछा :

—आप आचार्यवर के साथ जाना चाहते है या रहना चाहते है, यह तो व्यक्तिगत स्वार्थ की बात हुई। यहा आपकी जो उपयोगिता है, क्या वह उस व्यक्तिगत स्वार्थ से बडी नही है ?

अपने दर्शन केन्द्र पर हाथ का हल्का-सा दबाव डालते हुए युवाचार्यश्री ने मेरी जिज्ञासा के समाधान मे कहा—"क्या व्यक्तिगत स्वार्थ की उपयोगिता नही है ? अहमदाबाद में उपयोगिता की बात भविष्य के गर्भ मे है। उपयोगिता के प्रखर होने पर क्या हमे यात्रा के लिए नही सोचना पडेगा ? मेरी इच्छा की बात तो यही है कि मुझे आचार्यवर का सान्निध्य मिले। आदेश की बात मैं नही कह रहा हू। यदि आचार्यश्री आदेश दें तो मुझे कही भी रहना पड सकता है। किन्तु जहा तक मैं समझता हू, आचार्यश्री मेरी इस इच्छा का मूल्याकन करेंगे।"

अपने आचार्य की इच्छाशक्ति अपनी इच्छाशक्ति से जुडी होने का विश्वास उसी व्यक्ति को हो सकता है जो अपना सब कुछ निछावर कर एकमात्र अपने गुरु का होकर रह जाता है। युवाचार्यश्री आचार्यश्री के प्रति नेचुरली और लॉजिकली--दोनो ही दृष्टियो से समर्पित है, इसलिए वे बिना झिझक कह गए कि "आचार्यवर मेरी इच्छा का मूल्यांकन करेगे।" उस चर्चा के बीच मैंने युवाचार्यश्री का ध्यान उस बात की ओर खीचना चाहा जिसकी निष्पत्ति जानने के लिए हमारे मन मे ललक थी। उक्त सदर्भ को किसी साहित्यिक परिवेश में उलझाए बिना ही मैंने पूछा

—आपने अहमदाबाद नगर प्रवेश के दिन प्रथम प्रवचन मे कहा था कि यहा से किसी नयी धारा का सूत्रपात होने वाला है। वह नयी धारा कौन-सी है ? क्या उसका सूत्रपात हो गया ?

"प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान, शिक्षा के क्षेत्र में अनिवार्य आयाम बने, इस अपेक्षा का अनुभव उन लोगों ने किया है, जो शिक्षा के क्षेत्र मे काम करते हैं। यहां विश्वविद्यालय के शिविर मे यह स्वर पूरी प्रखरता के साथ बुलन्द हुआ कि शैक्षणिक जगत में जीवन-विज्ञान एक नया प्रयोग और नयी धारा है।

"इसी क्रम में अहिंसा सार्वभौम और अहिंसा यात्रा का उपक्रम है। हिंसा और शस्त्रीकरण से उत्पन्न समस्याओ के सन्दर्भ मे अहिंसक समाज-सरचना की दिशा मे यह एक नया अध्याय बनेगा तथा हिंसक समस्याओ के समाधान मे नयी दिशा देगा, ऐसा मेरा विश्वास है।"

—अहिंसा सार्वभौम क्या है? इसके द्वारा आप क्या करना चाहते हैं?

"अहिंसा सार्वभौम तो अहिंसक समाज-सरचना की दिशा मे एक नया दर्शन है। अहिंसा की रट बहुत चलती है पर विशेषत. उसके प्रशिक्षण का कोई क्रम नही है। यत्र-तत्र थोडा बहुत चलता भी है तो उसकी जानकारी नही मिलती। न कही अहिंसा के सम्बन्ध मे विशेष प्रयोग हो रहे हैं और न कही उस पर अनुसन्धान या गवेषणा की चर्चा ही है। इसलिए अहिंसा का कोई अनुसन्धान, प्रयोग और प्रशिक्षणात्मक कार्यक्रम चले, जिससे कि वह शक्तिशाली होकर लोक-जीवन को त्राण दे सके। यह अहिंसा सार्वभौम के नये दर्शन का प्राथमिक बिन्दु है। उसका दर्शन प्रयोग मे से फलित होना चाहिए, केवल सैद्धान्तिक चर्चा से नही। इसी अर्थ मे वह जीवन-दर्शन बन सकता है।"

— अहिंसा सार्वभौम का दर्शन पक्ष इतना स्पष्ट नही हुआ है। कृपा कर आप कोई उदाहरण देकर समझाए।

"वह दर्शन मूल्यवान होता है, जिसे जीवन के रूप मे प्रतिष्ठा मिल जाए। मार्क्स का दर्शन प्रयोग और प्रशिक्षण की प्रक्रिया से गुजरकर जनजीवन मे प्रतिष्ठित हुआ और शक्तिशाली हो गया। मार्क्स का वह प्रयोग एक प्रकार से आर्थिक व्यवस्था के समीकरण का ही प्रयोग था। अहिंसा का दर्शन आज जन-मानस मे प्रतिष्ठित नही है, उसका कारण यही है कि वह प्रयोग और प्रशिक्षण से जुड नही पाया। अहिसा के क्षेत्र मे अनेक प्रयोग किए जा सकते है। जैसे कि उन मे एक प्रयोग है हिंसा के अल्पीकरण का। अनावश्यक हिंसा को रोकने के लिए सामूहिक प्रयोग किया जा सकता है। अहिंसा यात्रा उसी शृखला की एक कडी है।"

—प्रेक्षाध्यान और जीवनविज्ञान मे क्या अन्तर है?

"प्रेक्षाध्यान का शैक्षणिक जगत् मे जो प्रयोग किया गया है, वह जीवन-विज्ञान है। विद्यार्थी शिक्षा जगत् का मूल आधार है। विद्यार्थियो के भावात्मक परिवर्तन के लिए प्रेक्षाध्यान के कुछ विशेष प्रयोगो का चयन कर जो पद्धति स्थिर

की गई है उसकी पहचान जीवनविज्ञान के नाम से हो गई। यह विशेषतः विद्यार्थियो के लिए उपयोगी है।"

—अहमदाबाद मे डॉक्टरो, प्रोफेसरों, विद्यार्थियो आदि के शिविर हो चुकने के बाद एक जिज्ञासा यह उठती है कि क्या प्रेक्षाध्यान की पद्धति अन्तिम रूप से स्थिर हो गई ? अथवा उसमे अभी परिवर्तन और परिवर्द्धन की सभावना है ?

"अन्तिम रूप से स्थिरता की बात कही होती ही नही। जैसे अनुभव बढते है, नये-नये द्वार खुलते रहते है। चेतना जगत् मे विकास की अनन्त सभावनाएं हैं, इसलिए उसके क्षेत्र मे किसी भी बात को अन्तिम नही कहा जा सकता। प्रतिवर्ष इसमे कुछ न कुछ नये आयाम जुड रहे हैं। भविष्य मे भी उस योग की सभावना को नकारने का कोई कारण नही है।"

—अहमदाबाद मे अणुव्रत-कार्य को आगे बढ़ाने की अधिक सभावना है या प्रेक्षाध्यान की ?

"अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान को विभक्त नही किया जा सकता। ये दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अणुव्रत को जीवनगत बनाने के लिए प्रेक्षा का प्रयोग अनिवार्य है और प्रेक्षा का प्रयोग होने से अणुव्रत का जीवन मे अवतरण निश्चित है। इन दोनो की मूल आत्मा मे कोई अन्तर नही है। अहमदाबाद मे प्रेक्षाध्यान का कार्य अधिक आगे बढेगा तो अणुव्रत स्वय फलित होगा और अणुव्रत-कार्य को बल मिलेगा तो प्रेक्षाध्यान की पृष्ठभूमि पुष्ट हो जाएगी।"

—प्रेक्षाध्यान के प्रयोग की निष्पत्तियो मे अणुव्रत का अवतरण सहज हो जाता है तो फिर अणुव्रत-कार्य के लिए अतिरिक्त रूप से शक्ति का व्यय क्यो किया जाता है ? हम अपनी शक्ति को प्रेक्षाध्यान के विस्तार मे ही केन्द्रित क्यो नही कर लेते ?

"अणुव्रत सामाजिक जीवन मे होने वाले व्यवहार का प्रतिबिम्ब है और प्रेक्षाध्यान उसमे प्राण-सचय करने की प्रक्रिया है। इसलिए प्रवृत्ति मे ये दोनो जरूरी है। जिस प्रकार दो बिन्दुओ से अलग-अलग चलने वाले राही किसी एक ही बिन्दु पर पहुचकर अपनी यात्रा सम्पन्न करते है, वैसे ही दो भिन्न दिशाओ से निकलने वाले प्रवाह एक दिशा मे पहुचकर अपने अस्तित्व को एक-दूसरे मे विलीन कर देते है। इस दृष्टि से प्रारम्भ मे दोनो प्रवृत्तियो को बल देने के लिए शक्ति को विकेन्द्रित रूप में नियोजित करना ही अच्छा है।"

—आप प्रेक्षा और अणुव्रत को एक-दूसरे का पूरक मानते है तो क्या अब तक बने अणुव्रतियो के लिए प्रेक्षाध्यान को अनिवार्य रूप से लागू किया गया ? यदि नही तो उनकी वृत्तियो के बदलाव का दूसरा रास्ता क्या है ?

"राणावास चातुर्मास मे 'अणुव्रत-प्रेक्षा शिविर' के रूप मे जो नया उपक्रम शुरू हुआ, उसका यही तो उद्देश्य था। प्रत्येक अणुव्रती के लिए प्रेक्षाध्यान के प्रयोग की अपेक्षा अब सघन रूप से महसूस की जा रही है। जब तक इस अपेक्षा को पूरा नही किया जाएगा, वाछित परिणामो के सामने एक प्रश्नचिह्न लगा रहेगा।"

—हमारे यहा कभी अणुव्रत सम्मेलन होता है, कभी आदिवासियो का सम्मेलन। कभी डॉक्टरो का सेमिनार होता है तो कभी प्रोफेसरों का। कभी विद्यार्थियों को लक्ष्य मे रखकर अभियान चलाए जाते हैं और कभी व्यापारियों को। इस विकेन्द्रित शक्ति को सलक्ष्य किसी एक ही अभियान मे खपाया जाय तो क्या विशिष्ट उपलब्धि की संभावना नही है?

"इस बात से मैं पूर्णत: सहमत हू कि केन्द्रित कार्य अनेक नही होने चाहिए। परिधि मे अनेक प्रवृत्तिया चल सकती हैं, पर केन्द्र मे एक-दो बात को ही स्थान मिलना चाहिए। हमारा केन्द्रीय कार्यक्रम है अध्यात्म का विकास। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान आदि प्रवृत्तिया इसी केन्द्र की परिक्रमा करती है। कुछ कार्य सामयिक परिस्थिति के अनुसार आवश्यक हो जाते है, उन्हे टाला नही जा सकता। मूल बात एक है कि कोई भी व्यक्ति या समूह कितनी ही प्रवृत्तियो का सचालन करे, वे प्रधान लक्ष्य से विभिन्न नही होनी चाहिए।"

घडी मे साढे पाच बज रहे थे। युवाचार्यश्री को शायद किसी दूसरी प्रवृत्ति मे सलग्न होना था। इस भाव से अवगत होने पर भी मैंने अपना अगला प्रश्न जो कि नितान्त युवाचार्यश्री के वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित था, पूछना चाहा। युवाचार्यश्री बोले, "अधिक प्रश्न हो तो कल पूछ लेना।" मैंने कहा, प्रश्न तो और भी हो सकते है, पर मै दो प्रश्नो के साथ अपनी बात समाप्त कर दूगी। युवाचार्यश्री उत्तर देने के मूड मे थे, इसलिए मैंने पूछा—

—एक ओर आप ध्यान की गहराई मे प्रवेश कर रहे है, दूसरी ओर अन्यान्य कार्यक्रमो मे भी उतना ही रस लेते है। क्या यह आपके जीवन की विसगति नही है?

"विसगति!" एक क्षण रुककर युवाचार्यश्री बोले—"एक भूमिका मे जो विसगति लगती है, दूसरी भूमिका मे वही सगति बन जाती है। यही तो जीवन की समस्वरता है। मेरा यह अभिमत है कि प्रवृत्ति के आधार पर चेतना की पहचान नही हो सकती। किन्तु चेतना के विकास की भूमिका के आधार पर प्रवृत्ति और चेतना की सगति को खोजा जा सकता है। मैं ध्यान करू या और कुछ, अपनी चेतना को अपने आप से ओझल नही होने देता हू। इस भूमिका पर मुझे अपनी प्रवृत्तियो मे किसी विसगति की प्रतीति नही होती।"

—और एक अन्तिम प्रश्न—अहमदाबाद आपको कैसा लगा ?

इस प्रश्न पर युवाचार्यश्री अपने अभिव्यक्ति के झरोखे खोलकर उसमे से झाकते हुए मानसिक प्रभाव को अनावृत करते हुए बोले—"अहमदाबाद मे मिलों का धुआ है। चिमनियां धुआ उगलती रहती हैं। वायुमडल मे धुआं है। फिर भी यह एक विचित्र योग है कि जन-मानस अच्छा है, स्वस्थ है। उसमे जिज्ञासा है, ग्रहणशीलता है और अपेक्षाकृत असाम्प्रदायिकता है। ये सब बातें मन को आकर्षित करने वाली है। कुल मिलाकर ऐसा लगा कि गुजरात या अहमदाबाद की धरती पर कुछ वैशिष्ट्य है।"

इस आखिरी प्रश्न का उत्तर पाकर युवाचार्यश्री के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर जब मैं उठी तो मेरे मस्तिष्क मे विचारो का एक प्रवाह था—अहमदाबाद की कुछ बातें मन को आकर्षित करने वाली है। शायद इसीलिए युवाचार्यश्री यहा रुक रहे है। अन्यथा तो विशेष लाभ या उपयोगिता के नाम पर भी वे आचार्यवर की सन्निधि को छोडने के लिए तैयार नही हुए। यह आकर्षण उन्हें कितने दिन तक बाधकर रख पाएगा ?

'हिन्दू' शब्द की युति कहां ? कैसे ?

[दिल्ली प्रवास १६८१ 'में पाचजन्य' के प्रतिनिधि आए। उनके मन मे अनेक प्रश्न थे। उन्होने युवाचार्यश्री से उनका समाधान चाहा। प्रश्न और उत्तर 'पाचजन्य' के ४-१०-८१ के अक मे 'हिन्दू को धर्म के साथ नही, राष्ट्र के साथ जोड़े'—शीर्षक से छपे। उसका यह सकलन है।—स०]

पांचजन्य—'पाचजन्य' के साथ पिछले साक्षात्कार मे तथा अपने एक भाषण मे आचार्यश्री तुलसी ने सुझाव दिया था कि 'हिन्दू' को धर्म के साथ नही, राष्ट्र के साथ जोडा जाना चाहिए। इस सदर्भ मे मैं पूछना चाहूगा कि आप हिन्दू की परिभाषा क्या मानते हैं ?

युवाचार्य—हिन्दू एक राष्ट्र का नाम है। सिन्धु नदी के सीमाकरण के कारण इसका नाम हिन्दू हुआ। जैन ग्रन्थो मे उल्लेख आता है कि एक जैनाचार्य ने अपने शिष्य से कहा—

चलो हिन्दू देश मे चले।

'एहि हिन्दुदेशम् बच्चामी'

दरअसल यह देश के लिए प्रयुक्त होने वाला नाम था। अब रहा धर्म का प्रश्न, तो धर्म की तीन मुख्य धाराएं रही हैं—वैदिक, जैन और बौद्ध। वैसे प्राचीनकाल मे मुख्यत. दो धाराए थी—ब्राह्मण और श्रमण। इन दोनो की बहुत सारी शाखाए थी। हिन्दू कोई धर्म नही था। आज बहुत कठिनाई हो गयी है। हिन्दू की कोई स्पष्ट परिभाषा नही है, इसकी कोई स्पष्ट अवधारणा नही है। जैन, बौद्ध, सिख इसमे क्यो नही आते हैं? इसलिए आज इस पर बल देना आवश्यक हो गया है कि इस शब्द को धर्म के साथ न जोडा जाए। बीच मे किन्ही कारणों, परिस्थितियो से चल पडा, परन्तु अब पुनर्विचार होना चाहिए।

पांचजन्य—हिन्दू को राष्ट्र के साथ न जोडकर धर्म के साथ जोड़े रखने मे

आप क्या खतरा महसूस करते हैं ?

युवाचार्य—हिन्दू धर्म प्राचीन तो है नही । यह शब्द ही बाद का है। हमारे श्रावक पूछते हैं कि हम क्या हैं, जैन हैं कि हिन्दू है ? बड़ी कठिनाई होती है। जब जनगणना होती है तो हिन्दू, जैन, बौद्ध--सब अलग-अलग लिखाया जाता है। हम भी कहते है कि धर्म मे जैन लिखाओ। आखिर लोग हिन्दू क्यों लिखाए ? सबसे बडा खतरा तो यह है कि हिन्दू धर्म लिखाने से अन्य धर्म कमजोर पड जाते हैं। हम राष्ट्रीयता मे हिन्दू लिखा सकते है, धर्म मे नही। अगर सभी लोगो को हिन्दू रखना चाहते हैं तो इसे धर्म की परिधि से निकालकर राष्ट्र, सस्कृति और समाज से जोडना होगा। अगर 'हिन्दू' राष्ट्रवाचक होता तो सभी धर्म के लोग अपने को हिन्दू कहते। धर्म के साथ जोडने मे हित कम, अहित ज्यादा हुआ है। अगर हिन्दू धर्म को वैदिक धर्म कहे तो अन्य धर्म अलग हो जाते हैं। अगर भारतीय धर्मों को हिन्दू धर्म मे रखें तो इसकी नयी परिभाषा बने।

पांचजन्य—प्रसिद्ध चिन्तक डॉ० राधाकृष्ण ने हिन्दू धर्म की चर्चा की है

युवाचार्य—सभी चिन्तन समय पर आए, यह कोई जरूरी नही। भारतीय धर्म-मात्र को अगर हिन्दू धर्म कहे तो ईसाई, मुसलमान भी भारतीय रहेगे। लेकिन उससे अलग करके देखे तो सब अलग-अलग हो जाते है। अधिकाश लोग वैदिक धर्म को ही हिन्दू धर्म मानते है। वेदो, उपनिषदो, गीता आदि को मानने वाले ही हिन्दू धर्म के माने जाते है। जैन, बौद्धो को इसमे लाते ही नही, उन्हे अलग कर देते है। हिन्दू धर्म माने वैदिक धर्म।

पांचजन्य— हिन्दू धर्म के अन्तर्गत तो सभी आते हैं ··

युवाचार्य—कैसे हुआ, कब हुआ, किसने किया ? यह बस चल पडा है। कोई सुनियोजित शब्द नही है। शब्दो का एक जाल-सा है। धर्म तो अपनी-अपनी परम्परा से है। अब आवश्यक है कि हिन्दू शब्द को व्यापक बनाया जाए। हिन्दुस्तान तो व्यापक शब्द है। सब कोई अपने को हिन्दुस्तान कहते है, कोई सकोच नही करते। हिन्दू की परिभाषा को अगर व्यापक रूप दे दिया जाए तो लोग अपने आपको हिन्दू कहेगे ही।

पांचजन्य—हिन्दू कहते ही प्रतिपक्ष मुसलमान क्यो खडा हो जाता है ? बौद्ध, जैन, सिक्ख क्यो नही ?

युवाचार्य—अन्य भी खडे होते है। जब हिन्दू लॉ आया था तब जैनो ने साफ कहा था कि हम हिन्दू नही हैं, हम पर लागू नही होना चाहिए।

आज सिक्ख क्यो अपने आपको हिन्दू नही मान रहे हैं, जबकि मुसलमानो से ज्यादा सघर्ष सिक्खों ने ही किया था। फिर आज क्या हो गया ? यह धर्म के कारण ही हुआ है।

पांचजन्य—लेकिन सिक्खो के गुरु गोविन्द सिंह ने अपने को हिन्दू कहा

और उसी के लिए सतत कार्य किया।

युवाचार्य—उस समय की स्थिति दूसरी थी। उस समय मुसलमान और हिन्दू आमने-सामने थे। मगर आज का सिक्ख क्या कहता है?

'हिन्दू' शब्द से ही अगर जैन, बौद्ध और सिक्ख अलग हो जाते हैं, इसके कोई कारण तो है। इसका बस एक ही कारण है कि हिन्दू को धर्म के साथ जोड दिया गया और हिन्दू धर्म को वैदिक धर्म मान लिया गया। कोई भी हिन्दू धर्म की व्याख्या करता है तो वह गीता, रामायण, वेद, उपनिषद् तक ही स्थिर हो जाता है।

पांचजन्य—हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अगर सबको ले लिया जाए—वेद, गीता, उपनिषद, धम्मपद, आचाराग सूत्र, गुरुग्रन्थ साहिब तो क्या आप हिन्दू धर्म कहलाना स्वीकार करेगे?

युवाचार्य—शास्त्रीय दृष्टि से अर्थ का विस्तार भी होता है और अर्थ का सकोच भी होता है। अगर इसको अर्थ-विस्तार दिया जाए और सभी भारतीय धर्मों को सम्मिलित करके हिन्दू धर्म को मान्यता दी जाए तो बहुत भला होगा। हिन्दू धर्म की स्पष्ट परिभाषा तय की जाए। सभी धर्मों के प्रमुख विद्वान् बैठें तथा मिलकर सहमति भरे तो इस समस्या का एक हद तक समाधान मिल सकता है।

पांचजन्य—हिन्दू धर्म न रहकर राष्ट्र या सस्कृति ही होती तो क्या आज की स्थिति उस समय नही होती? जिनकी निष्ठा बाहर के मुल्को से है, जो समय-समय पर देखा गया है और आज भी स्पष्टत देखा जा रहा है, क्या इस इतिहास की पुनरावृत्ति उस समय नही होती?

युवाचार्य—जहा तक निष्ठा वाली बात है, यह आरोप सब पर लागू नही हो सकता। कुछ लोग ऐसे है। ऐसे भी बहुत सारे मुसलमान और ईसाई हैं जो राष्ट्र को समर्पित है। ऐसे बहुत सारे हिन्दू हैं जो युद्धकाल मे दूसरे देशो के लिए जासूसी करते है। शत्रुओ के प्रलोभन मे आ जाते है। ये तो हर जाति मे होता है, परन्तु सब ऐसे नही होते।

पांचजन्य—हिन्दू सस्कृति की भी बात जब आती है तो इसमे सभी सम्प्रदाय के लोग आ जाते है जब कि मुसलमान इसे स्वीकार नही करते।

युवाचार्य—स्वीकार तो इसलिए नही करते कि हिन्दू का अर्थ ही सकुचित हो गया है। अगर यह राष्ट्रीयतापरक होता तो इसे स्वीकार करते।

पांचजन्य— मुसलमान तो अपने को भारतीय कहने मे भी संकोच का अनुभव करते है। वे राष्ट्रीय गीत का बहिष्कार करते हैं। पिछले साल मुरादाबाद मे पन्द्रह अगस्त के दिन मुसलमानो ने काला झण्डा फहराया···

युवाचार्य—मैंने पहले ही कहा है कि कट्टर लोग कहां नही होते।

पांचजन्य—अन्य मुसलमानो ने इसका विरोध भी तो नही किया। यह

मामूली सवाल तो है नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र की अस्मिता का सवाल है।

युवाचार्य—तमिलनाडु मे भी तो ऐसी ही घटनाए हुई थी···

पांचजन्य—परन्तु उनकी निष्ठा···

युवाचार्य—निष्ठा का सवाल बहुत जटिल हो गया है। तमिलनाडु को अलग करने की माग क्या थी? हिन्दुस्तान के प्रति निष्ठा है क्या? खालिस्तान को अलग करने की मांग क्या है? इस माग का मतलब ही यही है कि उनकी निष्ठा यहा से नही है।

देश का कानून और सविधान भी सबके लिए समान नही है। मुसलमान पाच शादियां तो कर सकता है परन्तु और कोई नही—ऐसा क्यों? परिवार-नियोजन के साथ भी यही बात है। सही माने मे इन परम्पराओं को धर्म की दृष्टि से नही बल्कि राष्ट्रीय दृष्टि से देखा जाए। इसके खिलाफ कही से कोई आवाज भी तो नहीं उठ रही है।

पांचजन्य—यह तो धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है···

युवाचार्य—लेकिन धर्म लोग कहते किसको हैं? राष्ट्रीय दृष्टि से कानून और चिन्तन एक हो। सबके पीछे तो राजनीति काम कर रही है।

पांचजन्य—इसका साफ मतलब है कि धर्मनिरपेक्षता से हिन्दुस्तान को खतरा बढ़ता जा रहा है।

युवाचार्य—मै तो मानता हू कि यह शब्द भी खतरनाक है, भ्रामक है। इससे बडा नुकसान हुआ है। डॉ० सपूर्णानन्द जैसे विद्वान् की इससे असहमति थी, वे इसे बदलने के पक्ष मे थे। मजहब निरपेक्ष हो सकता है, धर्म नही।

पांचजन्य—मजहब और धर्म मे क्या फर्क है?

युवाचार्य— मजहब तो सम्प्रदायवाचक है। धर्म व्यापक है। सम्प्रदाय से निरपेक्ष हुआ जा सकता है, धर्म से नही। सम्प्रदाय अपनी कुछ खास मान्यताओ को लेकर चलता है, वह देश-काल की परिधि मे सीमित रहता है परन्तु धर्म तो सार्वभौम है, उसे आप न बाध सकते है, न बाट सकते है।

हिन्दू शब्द के आसपास जटिलताए बढती जा रही है। यह अस्पष्ट वातावरण का निर्माण कर रही है। जिसका न कोई अर्थ है, न अवधारणा। सब उलझा जा रहा है। अगर पूरे समाज का स्वरूप राष्ट्रव्यापी होता तो यहा के मुसलमान भी अपने को यहा का सच्चा नागरिक मानते, मुस्लिम शासक भी तो आखिर इस देश को अपना मानते थे।

पांचजन्य—अगर अपना मानते तो लूट-खसोटकर नही जाते और न नृशसता का व्यवहार करते।

युवाचार्य—लूटने की बात अलग है। लूटने वाले तो लूटने के उद्देश्य से आए और चले गए। शासन करने वाले लम्बी अवधि तक बने रहे। उनके सामने एक

ऐसी स्थिति बन गई थी कि मुसलमान से इतर सभी हिन्दू हैं। उस समय हिन्दू और मुसलमान दो ही कौमें थी।

पांचजन्य—इन समस्याओं से छुटकारा कैसे पाया जा सकता है ?

युवाचार्य—सामूहिक विचार-विमर्श तथा चिन्तन की जरूरत है। आम सहमति से ही इसका समाधान खोजा जा सकता है। लक्ष्य एक हो तथा सबकी उसके साथ प्रतिबद्धता हो।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० रमन्ना और अनेकान्त दर्शन

[देश के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एव प्रतिरक्षा विभाग के वैज्ञानिक सलाहकार डॉ० रमन्ना आचार्यश्री से मिलने अणुव्रत विहार आए। आचार्यश्री का अभिवादन कर वे बैठ गए। आचार्यवर ने उनको जैन-दर्शन सबधी सामान्य जानकारी दी। योग और प्रेक्षा ध्यान के सबध मे वे कुछ अधिक जानकारी प्राप्त करे, इस दृष्टि से आचार्यश्री ने युवाचार्यश्री को निर्देश दिया। वे युवाचार्यश्री के पास पहुचे। —सपादक]

डॉ० रमन्ना—"मुनिश्री ! मैं जैन लॉजिक के बारे मे समझना चाहता हू। अब तक ऐसा अवसर नही मिला। आज मेरी चिर-पालित अभिलाषा पूरी होने का समय उपस्थित हो गया है। आप मुझे सबसे पहले अनेकात के बारे मे कुछ बताइए।"

युवाचार्यश्री—"अनेकात दृष्टि है। इसके द्वारा समूचे पदार्थ जगत् या विश्व को जाना जा सकता है। ससार मे जितने पदार्थ है, वे सब अनन्त विरोधी-युगलो के पिड हैं। एक विरोधी-युगल नही, अनन्त विरोधी-युगल प्रत्येक वस्तु मे है। जिसमे अनन्त-विरोधी-युगलो की सत्ता नही है, वह वस्तु ही नही हो सकती। सामान्यत किसी भी वस्तु की विरोधी पर्याय सामने आती है, उसे असत्य मान लिया जाता है। उलझन का प्रारम्भ यही से होता है। भगवान महावीर ने विरोधी धर्मों वाली वस्तु को देखकर असत्य नही कहा, उसकी प्रकृति को समझा। महावीर जैसा व्यक्तित्व एक सार्वभौम नियम को असत्य ठहरा ही कैसे सकता था ?

यहा दर्शन की धारा वदलती है। कुछ दार्शनिक विरोधी धर्मों को अपनी सहमति नही दे सके। उन्हे जहा-जहा विरोध की प्रतीति हुई, उसे छोडते चले गए और अविरोध को स्वीकारते चले गए। विरोधी धाराओं मे भी एक बिन्दु

ऐसा होता है जहां भिन्न दिशाओं से बहकर आने वाली धाराएं मिल जाती हैं। उस मिलन के बिन्दु को उन लोगों ने मान्य कर लिया, पर समग्रता से उसे नहीं पकड़ पाए। यहीं से एकांगी दृष्टि का निर्माण शुरू हो गया।

भगवान महावीर की यह मौलिक प्ररूपणा है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त विरोधी-युगल टिके रह सकते हैं। जब वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और उसमे विरोधी युगलों की सत्ता स्वाभाविक मान ली गई तब प्रश्न यह उठता है कि उन विरोधी धर्मों का सहावस्थान कैसे हो सकता है ? सर्दी और गर्मी, अग्नि एवं पानी साथ-साथ कैसे रह सकते हैं ? इनमें सामंजस्य स्थापित करने की क्या प्रक्रिया है ?

यह एक भ्रांत धारणा है कि अविरोधी तत्त्व साथ रह सकते हैं और विरोधी तत्त्व साथ मे नही रह सकते। वास्तविकता यह है कि अनेक विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं। विरोधी तत्त्व के बिना किसी धर्म का अस्तित्व ही नही टिक सकता। अस्तित्व के लिए प्रतिपक्ष होना जरूरी है।"

डॉ० रमन्ना—"प्रतिपक्ष के बिना किसी धर्म का अस्तित्व ही नही है, यह तो बहुत वैज्ञानिक बात है।"

युवाचार्यश्री—"जैसे आज विज्ञान मे कण और प्रतिकण, मेटर और एण्टीमेटर, परमाणु और प्रतिपरमाणु का सिद्धांत है, एक-दूसरे के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रतिपक्ष को नियामक माना जाता है, वैसे ही उत्तरवर्ती जैन आचार्यों ने 'यत् सत् तत् सप्रतिपक्ष' कहकर वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए विरोधी धर्म की सत्ता को स्वीकार किया है।

दो विरोधी धर्म साथ मे रह सकते है, यह एक सार्वभौम नियम है। इसके लिए दूसरा नियम है सापेक्षता का। विरोधी धर्म साथ मे रहते है, वे इसलिए रहते है कि उनमे परस्पर सापेक्षता है। निरपेक्ष धर्म एक साथ रह ही नहीं सकते।"

यह तथ्य भी डॉ० रमन्ना को बहुत वैज्ञानिक लगा। उन्होने यहा भी अपनी ओर से टिप्पणी की।

युवाचार्यश्री—"भगवान महावीर ने सापेक्षता के लिए कम-से-कम चार दृष्टियो की अनिवार्यता बताई है। वैसे दृष्टिया अनन्त हो सकती हैं, पर कम-से-कम चार दृष्टिया तो होनी ही चाहिए—१ द्रव्यदृष्टि, २. क्षेत्रदृष्टि, ३. कालदृष्टि, ४ भावदृष्टि। हम किसी भी वस्तु पर विचार करते हैं, तो सबसे पहले द्रव्य पर विचार किया जाता है, सहति पर विचार होता है—मास एण्ड एनर्जी। द्रव्य कितना है ? और क्या है ? इस पर विचार किए बिना उसके स्वरूप का बोध नही हो सकता।

द्रव्य के बाद विचारणीय बिन्दु है क्षेत्र। क्योकि इसके बिना किसी द्रव्य पर विचार नही हो सकता। क्षेत्र की व्याख्या काल के बिना नही हो सकती। भाव

वस्तु का अविच्छिन्न धर्म होता है। वस्तु परिवर्तनशील है इसलिए उसके विभिन्न पर्याय है, अवस्थाए है। एक अवस्था दूसरी अवस्था से सापेक्ष रहती है, तभी वह वस्तु का धर्म बन सकती है। इसलिए किसी भी तत्त्व को समझने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सापेक्षता आवश्यक है।

तीसरा नियम है परिणमन का। प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य होता है। वह न तो एकान्तत नित्य ही हो सकता है और न अनित्य ही। यह विरोधी-युगल वस्तु के मूल स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। केवल नित्यता और केवल अनित्यता के आधार पर किसी वस्तु की व्याख्या हो नही सकती। क्योकि वस्तु की त्रैकालिक सत्ता और उसमे घटित होने वाले परिवर्तन स्पष्ट हैं। जो स्पष्ट है, उसे अस्वीकृत भी कैसे किया जा सकता है?

पदार्थ को अनित्य मानने वाले दार्शनिक परिवर्तन की बात स्वीकार करते हैं, पर केवल परिवर्तन आधार शून्य रह जाता है। उसकी कोई युक्ति-सगत व्याख्या नही मिलती। प्रवाह या किसी अन्य कल्पना से भी यह समस्या नही सुलझती। इसलिए विश्व की व्याख्या के लिए युक्ति-सगत नियम 'परिणामी नित्य' का सिद्धात ही हो सकता है।

परिणाम का अर्थ है बदलना या भिन्न-भिन्न होना। इस क्रम से सारा ससार भेद-प्रधान हो जाता है। कुछ दार्शनिक समष्टि चेतना को स्वीकार करते है। उनके अनुसार जगत् के मूल मे एक तत्त्व काम करता है। इस प्रश्न पर सापेक्षता की दृष्टि से विचार करें तो एक नियम बनता है भेदाभेद का—कथचित् भेद और कथचित् अभेद। ऐसा कोई तत्त्व है ही नही जिसे एकान्तत भेद-प्रधान या अभेद-प्रधान कह सके। क्योकि ये दोनो परस्पर विच्छिन्न नही है, कटे हुए नही हैं। निष्कर्ष यह है कि समूचे ससार के मूल मे एक सूत्र भी है और प्रत्येक द्रव्य व्यक्तिश भिन्न भी है।

विश्व व्याख्या के इस चौथे नियम मे भेद और अभेद दोनो सापेक्ष हैं। भेद की ओर चलते जाए तो ठेठ परमाणु तक पहुच हो जाएगी। वैज्ञानिक दृष्टिकोण भेद-प्रधान होता है। वह सश्लेष की अपेक्षा विश्लेषण अधिक करता है। किन्तु दूसरी ओर हम देखते है कि परमाणु बहुत उपयोगी नही होता। परमाणुओ का समवाय बढता जाता है। स्कन्ध बनते ही उनका उपयोग शुरू हो जाता है। पौद्गलिक जगत् मे यह भेद और अभेद का नियम बिलकुल स्पष्ट है।

जैन दर्शन मे केवल पौद्गलिक, भौतिक या परमाणु-जगत् का अस्तित्व ही नही है। वह अभौतिक जगत् का भी अस्तित्व स्वीकार करता है। वहा केवल अचेतन का ही नही, चेतन का भी मूल्य है। चेतन से अचेतन भिन्न है। भौतिक से अभौतिक भिन्न है। भिन्नता की स्थिति मे एक ही नियम के द्वारा विश्व की व्याख्या नही हो सकती। अथवा यह कहा जा सकता है कि विश्व भी दो अलग-

अलग हो जाएंगे। जबकि जगत् है एक। इस स्थिति में भेदाभेद के नियम का अपना अतिरिक्त मूल्य हो जाता है।

दूसरे दार्शनिक भी अचेतन और चेतन—इन दो तत्त्वो को स्वीकार करते हैं। किन्तु अचेतन को अभौतिक स्वीकार करने वालों मे सबसे पहले कदम उठाने वाला जैन-दर्शन है। तत्त्व अचेतन है, पर भौतिक नही, यह बात किसी समय मे आश्चर्य जैसी लगती थी किन्तु आज तो यत्र-तत्र वैज्ञानिको को भी ऐसे कण उपलब्ध हो गए हैं, जो भौतिक नही है। यद्यपि उसकी व्याख्या के साथ जैन-दर्शन की सहमति नही है। क्योंकि भौतिक तत्त्व की वैज्ञानिक परिभाषा है स्थूलता। पर ऐसे पुद्गल भी होते हैं जिनमे स्थूलता का लक्षण घटित नही होता। वे पुद्गल भारहीन है, अगुरुलघु है। ऐसे पुद्गल चतु स्पर्शी होते है।

पुद्गल के अतिरिक्त भी ऐसे तत्त्व हैं, जो अचेतन हैं, पर भौतिक नही है। उनमे दो तत्त्वो की खोज विज्ञान द्वारा हो चुकी है। पहला तत्त्व है गति-नियामक और दूसरा है स्थिति-नियामक। ये दोनो तत्त्व व्यापक हैं। जहा तक इनका अस्तित्व है, गति और स्थिति वही तक है। आकाश तत्त्व भी अचेतन है किन्तु अभौतिक है। अभौतिक तत्त्व मे सश्लेष और विश्लेष की प्रक्रिया नही है, सयोग और वियोग नही है।

चेतन तत्त्व अभौतिक भी है और चैतन्य-सम्पन्न भी। इसलिए वह पुद्गल और अभौतिक अचेतन—दोनो से भिन्न है। इतना होने पर भी चेतन और अचेतन मे सबध न हो तो न चेतन की व्याख्या हो सकती है और न अचेतन की।

द्रव्यत्व और अस्तित्व—इन दो सूत्रो से चेतन और अचेतन दोनो पदार्थ जुडे हुए है। इनसे भी बडा सूत्र है अगुरुलघुत्व। अस्तित्व अनस्तित्व मे न बदले इसका नियामक तत्त्व अगुरुलघुत्व है। प्रत्येक वस्तु मे एक ऐसा पर्याय काम करता है, जिससे द्रव्य या वस्तु प्रथम क्षण अपना अस्तित्व रखता है और दूसरे क्षण उसे बनाए रखने की योग्यता प्राप्त करता है। वस्तु मे यह परिणमन की क्षमता न हो, दूसरे क्षण के अनुरूप स्वय ढालने की क्षमता न हो तो वह विनष्ट हो जाता है। दूसरे क्षण मे अस्तित्व तभी रह सकता है, जब पदार्थ मे परिणमन की क्षमता हो।

अगुरुलघुत्व का नियम विश्व की स्थिति का आधार है। विश्व मे जितने भी द्रव्य थे, उतने ही है और उतने ही रहेगे। न नये का उत्पाद होगा, न किसी का व्यय होगा। 'यावन्तस्तावन्त एव' यह अगुरुलघुत्व के कारण ही है।"

डॉ० रमन्ना अनेकात के सदर्भ मे विश्व-स्थिति की व्याख्या सुनने मे इतने लीन हो गए कि उन्हे जैन दर्शन विज्ञान से भिन्न दिखाई नही दिया। अगुरुलघुत्व का नियम उन्हे बहुत वैज्ञानिक लगा। इस संबध मे उन्होंने कहा—"हम भी मानते है कि ससार मे जो कुछ है, वही रहेगा। कोई नयी चीज कभी पैदा हो ही नही सकती। यह नियम विश्व-स्थिति का सार्वभौम नियम है। यह अस्तित्व और

अनस्तित्व का निर्णय इसी के आधार पर होता है।"

युवाचार्यश्री—"वस्तु के अस्तित्व को समझने के लिए दो बातों को समझना और जरूरी है—व्यक्त का अस्तित्व और अव्यक्त का अनस्तित्व। वस्तु की बहुत-सी अव्यक्त पर्याए वर्तमान मे नही होती। वे अतीत मे थी या अनागत मे होंगी। उनको अस्तित्व मे नहीं माना जाता। वे ही जब व्यक्त हो जाती हैं तब अस्तित्व मे आ जाती हैं। यह परिणमन का सिद्धात काल-सापेक्ष ही नही, स्वरूप-सापेक्ष भी है। जिन द्रव्यो मे अगुरुलघुत्व है, परिणमन है, वे ही वास्तव मे अस्तित्वशील है। इनके आधार पर ही त्रिपदी का नियम बनता है। इसमे उत्पाद और व्यय दोनो साथ-साथ घटित होते हैं, फिर भी मूल अस्तित्व सुरक्षित रहता है। जिस पदार्थ का अस्तित्व ही न हो, उसमे परिणमन का प्रश्न ही नही उठता।

विज्ञान के नियम निश्चित नही होते। क्योंकि उनका निर्धारण ज्ञान जगत् के आधार पर होता है। जब भी अज्ञात ज्ञात होता है, नियम बदल जाता है। विज्ञान ने माना है कि प्रकाश की गति सर्वोत्कृष्ट है। किन्तु सापेक्षता के नियम से देखे तो यह कोई अन्तिम बात नही है। जैन आगमो मे ऐसे परमाणु और परमाणु-समवायो का उल्लेख है, जिनकी गति प्रकाश से बहुत अधिक तीव्र है। वैज्ञानिक दृष्टि से ध्वनि की गति प्रकाश जितनी है, क्योंकि उसका वाहक प्रकाश है। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार भाषा के परमाणु एक समय (काल का सबसे छोटा भाग) मे सारे लोक मे व्याप्त हो जाते हैं। ये सब नियम सापेक्षता की दृष्टि से ज्ञातव्य हैं।"

डॉ० रमन्ना—"विज्ञान के अधिकाश नियम परिवर्तनशील है। नया तत्त्व ज्ञात होते ही पुरानी धारणाए बदल जाती है। किन्तु जब तक वह अज्ञात रहता है, उसका खडन होता है।"

युवाचार्यश्री—"हमारे यहा सबसे बडी कठिनाई यह है कि काम का उचित मूल्याकन नही होता है। प्राचीन समय मे यहा इतनी खोजे हुई है पर उन पर शोधकर्त्ताओ को वैज्ञानिक नही कहा गया। कुछ वर्षो पूर्व तक एक हिन्दुस्तानी लहर थी कि वे अपने बुजुर्गों को अल्पज्ञ मानते थे। प्राचीनकाल मे ऋषि-मुनियो ने भी कुछ नयी खोजे की और नये तथ्य ससार के सामने रखे। पर हमारी दूसरी कठिनाई यह है कि उस समय की भाषा और परिभाषा पकड मे नही आती। आज वैज्ञानिक कहते है कि पोजिटिव और नेगेटिव दोनो के योग से विद्युत् उत्पन्न होती है। और भी अनेक काम होते है। यह बात भी बहुत पुरानी है, पर पकड मे नही आयी थी। जैन दर्शन मे दो शब्द है—स्निग्ध और रुक्ष। चिकना और रूखा—ये दोनो शब्द पोजिटिव और नेगेटिव के प्रतीक है। बहुत पुरानी है यह धारणा, किन्तु इसकी वैज्ञानिक खोज इसी शताब्दी मे हुई।

कार्यकारणवाद भी एक नियम है, पर यह भी सापेक्ष है। कुछ दार्शनिक

कार्य और कारण का निश्चित संबंध मानते हैं। अनेकांत की दृष्टि से इस संबंध की अनिवार्यता नहीं है। सामान्यत हर कार्य कारण की अपेक्षा रखता है, पर कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो निर्निमित्तक हैं। उपादान कारण वस्तु का स्वरूप है, इसलिए वह तो रहता ही है, निमित्त कारण जरूरी नही है।

इस लम्बी चर्चा मे हमने जितने तथ्यों का स्पर्श किया है, प्रतिपादन किया है, वह सारा सापेक्ष प्रतिपादन है, इसलिए इसे मानकर चलने मे कोई कठिनाई नही आती। सत्य और असत्य के साथ न तो ऐकान्तिक आग्रह होना चाहिए और न ही होना चाहिए वैचारिक सघर्ष। यह जैन दर्शन की अपनी मौलिक देन है। इस सबध मे और कुछ ज्ञातव्य हो तो पूछें।"

डॉ० रमन्ना इतने कोणो से अनेकात की चर्चा सुनकर आत्मविभोर हो उठे। उन्हे अपने जीवन मे पहली बार यह मौका मिला था। वे अब प्रश्न पूछकर विषय को मिश्रित करना नही चाहते थे। अत्यन्त सतुष्ट होकर प्रसन्न मन मे वे उठे और आचार्यश्री के पास पहुचकर बोले—"बहुत वर्षों से मेरी इच्छा थी कि मैं जैन लॉजिक के बारे मे समझू, पर अब तक कभी अवसर ही नही मिला। आज मैं प्रसन्न हू क्योकि मेरी एक चिरपालित अभिलाषा पूरी हो गई है।"

आचार्यश्री एक मधुर मुसकान बिखेरते हुए बोले—"आज मैं भी प्रसन्न हू। मेरा भी एक स्वप्न पूरा हुआ है। मै चाहता था कि हमे कोई पहुचा हुआ वैज्ञानिक मिले, जिसे जैन दर्शन और न्याय के बारे मे बताया जाए, ताकि वे इसकी वैज्ञानिकता को समझ सके। मैं मानता हू कि आप जैसे वैज्ञानिक ही जैन दर्शन की सूक्ष्मताओ को आत्मसात् कर सकते है। इससे समूचे मानव समाज का भला हो सकता है।"

विशोधन की प्रक्रिया : प्रेक्षा ध्यान

चोट करना सीखे

"बदलना प्रकृति का नियम है। हर पदार्थ परिवर्तनशील है। कोई भी बहुत दिनो तक अपने मूलरूप मे नही रहता। फिर वृत्तियाँ या स्वभाव नही बदल सकती, यह धारणा क्यों बना ली गई है। बहुत अपेक्षा है बदलने की किन्तु किस दिशा मे बदले यह चुनाव का विषय है। सबसे अच्छी दिशा है मानसिक विकास या चैतसिक विकास की।

आदमी की यह भी एक प्रकृति है कि वह हर बात के साथ अपने अहकार को जोड देता है। इस प्रवृत्ति के कारण ही वह भारयुक्त बना है।

एक बुढिया को यह अहं हो गया कि मुझसे ज्यादा रूई और कोई कात नही सकता। एक दिन उसने देखा कि रूई से लदा एक जहाज समुद्र के किनारे आकर लगा। इतनी बडी मात्रा मे रूई को देखकर वह हैरान रह गई। मन मे तत्काल ही प्रश्न उठा—इतनी रूई कौन कातेगा ? बार-बार यही प्रश्न उसके मस्तिष्क मे उठता—इतनी रूई कौन कातेगा ? बुढ़िया विक्षिप्त हो गई। लम्बी सास भरते हुए बस यही एक प्रश्न वह बार-बार दुहराती। घर के लोग परेशान ! डॉक्टरो की चिकित्सा फेल हो गई। अन्तत एक मनोचिकित्सक बुढिया का इलाज करने आया। सारी स्थिति का सूक्ष्मता से अध्ययन किया। तेजी से रूई कातने वाली वह बुढिया समुद्र के किनारे रूई के जहाज को देखकर पागल हुई थी, यह जानकर तुरन्त उसने बीमारी पकड ली। बुढिया के पास जाकर उसके कान मे उसने कहा—'माजी ! जहाज की सारी रूई जल गई।' 'सारी रूई जल गई ?' यह कहकर बुढिया खुशी से उछल पडी। मन की उलझन समाप्त और बुढ़िया स्वस्थ।

प्रेक्षा ध्यान एक भावात्मक या मानसिक चिकित्सा है, और कुछ नही। केवल देखना और केवल जानना कि हमने अपने मस्तिष्क मे कितना कुछ कबाड़ भर

रखा है। जानते और देखते तो हैं किन्तु उसके साथ प्रियता या अप्रियता का भाव जोड़ देते हैं। जानने की पवित्र धारा के साथ-साथ कषायों का गंदला पानी भी उसमे भर लिया है। प्रेक्षा ध्यान चित्त को कषायों से मुक्त कर उसे विशुद्ध बनाने की प्रक्रिया है, जीवन की शैली को बदलने की प्रक्रिया है।

जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हमारा मार्गदर्शन करे, वही वास्तविक धर्म है। आदमी दुःखी बनता है, बुराई या अप्रामाणिकता में जाता है अज्ञानवश। उसमें कोई भावना पैदा होती है और वह ज्ञान की विपरीत दिशा में चला जाता है। उद्दीपनो पर हम कंट्रोल कर सकें, यह केवल कल्पना से नही होगा। इसका सकल्पपूर्वक नियमित अभ्यास करना होगा। कौन-सी प्रवृत्ति कहां से उभरती है और उसका नियमन कहाँ से होता है, यह जानना बहुत आवश्यक है। हमारे भीतर प्रकाश भी है और अन्धकार भी। अन्धकार को कहा से और कैसे मिटाएं, इसे अच्छी तरह से समझना है।

एक व्यक्ति की मोटर खराब हो गई। तमाम कोशिशो के बाद भी इजन स्टार्ट नही हुआ। मेकेनिक को बुलाया। वह आया, देखा और बोला—सौ रुपये लूगा। मजबूरीवश स्वीकार करना पड़ा। मेकेनिक ने इजन के किसी पार्ट पर हथौड़े से चोट की और इजन स्टार्ट हो गया। मोटर का मालिक बोला—भाई, यह तो मैं भी कर सकता था। सिर्फ एक चोट के सौ रुपये लेना कहा की ईमानदारी है! मेकेनिक बोला—श्रीमान्‌जी! चोट करने का तो मैंने केवल एक रुपया लिया है। निन्यानबे रुपये 'चोट कहा करनी है' इस बात के लिए हैं।

हमे यह जानना है, चोट कहा करे जिससे शरीर का लडखडाता इजन सक्रिय हो जाए। दस दिन के अभ्यास से आप वीतरागी तो नही बनेंगे किन्तु इतना जरूर जान जाएगे कि चोट कहा करनी है और यदि इतना जान गए तो समझिए मन-शान्ति का बहुत बडा गुर आप सीख गए।"

भाव परिष्कार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के एक ऐसे परिवेश मे रहता है जहा हिंसा, अशांति, भय और तनाव का वातावरण है। जीवन मे ये बडी बाधाए और समस्याए है, किन्तु जहा समस्या है वहा समाधान भी है। धर्म और चिकित्सा क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। मेरी मान्यता है कि एक चिकित्सक को धर्म के विषय मे जितना जानना आवश्यक है उतना ही एक धर्म-गुरु को चिकित्सा के विषय में जानकारी रखना आवश्यक है। चिकित्सा करने से पूर्व रोग के कारणों को जानना होगा। आज का मनुष्य आधि, व्याधि, उपाधि और समाधि के चौराहे पर खडा है। हमारी सारी बीमारियां आती हैं भावनात्मक शरीर से, फिर वे क्रमश. आधि और व्याधि के रूप मे परिलक्षित होती है। आधि-व्याधि से परे

की स्थिति है समाधि। जीवन मे समाधि का अवतरण तभी होगा जब व्यक्ति आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त होगा। एक कर्मशास्त्र का वेत्ता कर्म सिद्धान्त को जानता है और आधुनिक मेडिकल साइस इसको स्वीकार करती है। यदि दोनो की तुलनात्मक व्याख्या करे तो निष्कर्ष मे कोई अन्तर अनुभव नही होगा। भाव का परिष्कार करना तथा अन्त स्रावी ग्रंथियो के अन्त स्राव को बदलना एक ही बात है। हमारे शरीर मे ग्रथियो का क्या कार्य है, उनका शरीर पर क्या प्रभाव पडता है, यह बात एक डॉक्टर अच्छी तरह जानता है। किन्तु वह उसे बदलने की प्रणाली नही जानता। ध्यान के द्वारा अन्त स्रावो को कैसे बदला जा सकता है, भाव-परिष्कार कैसे किया जा सकता है? यदि हम यह जान लें तो जीवन मे बहुत कुछ परिवर्तन घटित हो सकता है। फिर किसी को यह शिकायत भी नही रहेगी कि जीवन मे अशाति है, भय है, तनाव है। इससे चारित्रिक मूल्यो की प्रतिस्थापना होगी और साथ-साथ व्यक्तिहित, समाजहित और राष्ट्रहित मे बहुत बडा काम होगा।

आयुर्वेद और प्रेक्षा ध्यान

आयुर्वेद का विकास अध्यात्म की प्रज्ञा से हुआ है। धन्वतरी ने अपनी अन्त-स्फुरित प्रज्ञा से ही आयुर्वेद का विकास किया था। मेरे शास्त्रीय अध्ययन मे आयुर्वेद के ग्रथो की गहरी पृष्ठभूमि है। बहुत बार शास्त्रीय रहस्यो को पकडने मे आयुर्वेद के ग्रथ मेरे सहयोगी बने हैं। चिकित्सा की दृष्टि से शारीरिक चिकित्सा के साथ-साथ मानसिक चिकित्सा का भी यह एक महत्त्वपूर्ण प्रसग है। आध्यात्मिक चिकित्सा का इसमे बहुत बडा भाग है। हमारी अधिकाश शारीरिक बीमारिया भावना से जुडी हुई है। अत चिकित्साशास्त्र को कभी भी अध्यात्म से अलग नही किया जा सकता।

बहुत बार अनेक महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाए भी रूढ बन जाती है। आयुर्वेद भी उस रूढता का शिकार हुआ है। आयुर्वेद ने कभी बहुत बडे सत्य का उद्घाटन किया था, पर अब उसके साथ अनुसधान की प्रवृत्ति नही रही। आज बहुत सारे वैद्य भी एलोपैथिक दवाओ की पुडिया बनाकर अपना काम निकालते है। ऐसे समय मे प्रेक्षा ध्यान और अणुव्रत का बहुत बडा सबध हो जाता है। कल एक अच्छे डॉक्टर मेरे पास आए। उन्होने कहा—मै एलोपैथिक का चिकित्सक हू पर मुझे लगता है मेरा सारा प्रयास निरर्थक है।

इन सारी स्थितियो के सदर्भ मे कहा जा सकता है कि यदि आयुर्वेद को अपनी विस्मृत सपत्ति को पुन प्राप्त करना है तो उसे ध्यान पद्धति से जुडना होगा। ध्यान उसके लिए अनुसधान का द्वार खोलेगा। अनुसधान के आधार पर आयुर्वेद आगे बढेगा और अपनी धाक जमा पाएगा। इस सदर्भ मे आयुर्वेद और प्रेक्षा ध्यान का समन्वित कदम उठे, यह आवश्यक है।

यथार्थ विज्ञान : जीवन विज्ञान

आज अनेक समस्याएं हैं। वे सबके सामने स्पष्ट है। प्रश्न है उनके समाधान का। क्या इनका समाधान है या अनन्तकाल तक बनी रहेगी ? क्या हृदय का परिवर्तन किया जा सकता है ? आज समस्त मानव जाति के सामने हिंसा, अपराध और आक्रमण की समस्याए है। ये सबको परेशान कर रही है। इनसे भी बडी और जटिल समस्या है मानसिक तनाव की। क्या इन समस्याओ से बचा जा सकता है ? आचार्यवर ने इन समस्याओ पर गंभीरता से चिन्तन किया और समाधान के रूप मे अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। एक नवीन आचार और विचार प्रस्तुत किया।

आजादी के पूर्व लोगो का चिन्तन था कि स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद नये निर्माण होगे। दूध-दही की नदिया बहेगी। खुशहाली और अमन-चैन होगी। स्वतत्रता का अपना एक उन्माद होता है। परतत्रता के बाद स्वतत्रता मिलने पर चिन्तन और दृष्टिकोण मे परिवर्तन आ जाता है। आजादी मिलने के बाद जो कल्पनाओ के महल खडे थे, वे ढह गए, मोह भग हो गया। राजनैतिक आजादी मिली, मानसिक गुलामी अपनी जगह कायम रही। आचार्यश्री ने मूल सचाई को पकडा। अणुव्रत की आचार-सहिता प्रस्तुत की। वह सचाई यह है कि हम लोग चाहे धर्म के क्षेत्र मे हो या शिक्षा के क्षेत्र मे, सिद्धान्त को जितना महत्त्व देते है, उतना प्रयोग को नही। प्रवचन, उपदेश मे विश्वास करते है, प्रयोग मे नही। बहुत बडा प्रश्न है धर्म-क्षेत्र के सामने कि इतने धर्मगुरु, धर्मोपदेशक और धर्मग्रन्थ है, फिर भी समाज बदल नही रहा है। इतनी विद्या की शाखाएं, इतने विद्यालय, इतने शिक्षक फिर भी विद्यार्थी बदल नही रहे है। इसका कारण है कोरा उपदेश। गीता का प्रवचनकार अनासक्त योग पर बहुत अच्छा बोल देता है, किन्तु स्वय अनासक्त नही बनता। जैन आगमों का एक व्याख्याता अहिंसा, करुणा, मैत्री आदि पर बहुत अच्छा प्रवचन दे देता है पर अपने स्वय के जीवन मे अहिंसा, अपरिग्रह का विकास नही करता। गीता मे सिद्धात के साथ-साथ अनासक्त योग

के जो प्रयोग जुडे है, उनका कोई आचरण नही करता, केवल व्याख्या करता है। अहिंसा और अपरिग्रह के प्रयोग नही किए जाते। इस विषय पर चिन्तन करते समय आचार्यश्री के मन मे यह बात आयी कि हमे कोई ऐसा मार्ग खोजना चाहिए, जिस पर चलने से हृदय-परिवर्तन हो सके। पुरानी भाषा मे हृदय-परिवर्तन और आज की वैज्ञानिक भाषा मे रासायनिक परिवर्तन। जब तक रासायनिक परिवर्तन नही होता, तब तक हजार बार पढने और सुनने के बाद भी आदमी नही बदलता। मूल बात है भाव-परिवर्तन और भाव-परिवर्तन के साथ सम्बन्ध है हमारी अन्त स्रावी ग्रन्थियो के रसायनो का। कर्म से उत्पन्न होता है भाव और भाव से उत्पन्न होते है रसायन। रसायन उत्पन्न करने वाले ग्लैण्ड्स मे जो हारमोन्स बनते हैं, वे एक-जैसे नही होते, भाव के अनुसार होते है। जैसे हमारा आन्तरिक भाव होता है, वैसे ही रसायन उत्पन्न होते है और ये रसायन प्रभावित करते हैं हमारे आचार, विचार और व्यवहार को। आदमी के आचार, विचार और व्यवहार को कौन कट्रोल कर रहा है ? इस पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाए तो पता चलेगा कि नर्वस सिस्टम मे जो मुख्य-मुख्य ग्लैण्ड्स है वे सब कट्रोल करते हैं हमारे आचार, विचार और व्यवहार को। जब तक इनके बदलने की बात न की जाए तब तक सभव नही कि विद्यार्थी या समाज का कोई व्यक्ति बदल सके। केवल पत्तियो को पकडने से काम नही चलेगा, हमे जड तक पहुचना होगा।

हमारा यह अनुभव है कि बारह वर्ष की अवस्था तक यदि किसी विद्यार्थी के पीनियल ग्लैण्ड्स को सक्रिय रखा जा सके तो नयी पीढी का निर्माण किया जा सकता है। बारह वर्ष की अवस्था के बाद पीनियल ग्लैण्ड्स निष्क्रिय होना शुरू हो जाती है। इस अवस्था तक यह ग्रन्थि उसकी अपराधिक प्रवृत्ति पर नियत्रण रखती है और उसके बाद वह अप्रभावी होती चली जाती है।

आज प्राय सुना जाता है हर किसी से कि कथनी और करनी मे असमानता बढ रही है, पर क्यो ? हम कारण पर विचार करे तो पाएगे कि हमारा सवेग यह सब करा रहा है। आचार्यश्री बहुत बार कहा करते हैं कि हमने कोई ठेका नही ले रखा है कि सारे समार को सुधार देगे। किन्तु हमारे पास एक उपाय है, जिसके द्वारा आदमी को बदला जा सकता है। यह कोई पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर नही, अनुभव और प्रयोग सिद्ध बात है। हमने अपने पर और अनेक व्यक्तियो पर परीक्षण किया है और देखा है कि किस प्रकार व्यक्ति सन्तुलित और सामान्य बन जाता है।

आज धर्मगुरु की अपेक्षा शिक्षक पर ज्यादा जिम्मेदारी है। क्योकि विद्यार्थी शिक्षक के नजदीक ज्यादा है। सारा दायित्व शिक्षा पर है। यदि शिक्षा के द्वारा यह भावनात्मक विकास नही हो सकता तो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र का क्या होगा,

यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है। जीवन विज्ञान के क्षेत्र में यह परिकल्पना है कि योग-समवाय के द्वारा ऐसा कुछ किया जाए। शिक्षण संस्थाए तो बहुत लम्बा समय लेती हैं। हम जिस प्रयोग की बात कर रहे हैं, वह मात्र तीस-चालीस मिनट का है। एक प्रयोग कराया जाए पाच दिन और एक दिन केवल सैद्धान्तिक बात बतलाई जाए। एक वर्ष बाद इसका सर्वेक्षण किया जाए तो निश्चय ही इसके परिणाम चौंकाने वाले होगे।

अवचेतन मन की सुप्त शक्तियों को जागृत किया जा सकता है। हिन्दुस्तान के आदमी मे काफी क्षमता है। उसकी शक्ति, सामर्थ्य और कुशलता का लोहा सारी दुनिया मानती है। किन्तु यहा का आदमी बहुत चरित्रवान होता है, यह धारणा अभी नही बन पायी है। हम अपने जीवन को बदले, केवल सैद्धान्तिक तौर पर नही, प्रायोगिक तौर पर। जीवन विज्ञान का यह प्रयोग सामाजिक सम्बन्धो का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इसके बिना समाज मे मानवीय मूल्यों की स्थापना होना असम्भव है। भावात्मक, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की बात सधने से ही सामाजिक स्वास्थ्य सध सकता है। जीवन विज्ञान किसी धर्म-सम्प्रदाय से सबधित नही है। यह मात्र विद्या की एक शाखा है। मैं चाहता हू कि इसका विकास शिक्षा-शाखा के रूप मे होना चाहिए। बौद्धिक विकास के साथ ही भावना का विकास भी होना चाहिए। अध्यात्म, सद्‌भावना, सहिष्णुता, प्रेम व एकता के भाव का सन्तुलित विकास होना चाहिए।

आचार्यप्रवर ने विद्वानो की गोष्ठी मे कहा था कि लोग शिक्षा-प्रणाली को गलत कहते हैं, मैं यह नही मानता, क्योकि इसी शिक्षा-प्रणाली ने योग्य डॉक्टर, इजीनियर, राजनयिक, उच्चकोटि के विद्वान एव राष्ट्रोन्नति के लिए अनेक योग्यतम व्यक्ति दिए है। बौद्धिक विकास हुआ है किन्तु चरित्र-विकास की ओर हमारा ध्यान नही गया। बीज बोया ही नही गया तो फल की प्राप्ति कैसे होगी! विद्यार्थी को अनुशासित होने की विधि तो दी ही नही तो उसे अनुशासनहीन कहना उचित नही होगा। जीवन विज्ञान के द्वारा चरित्र-निर्माण का कार्य हो सकेगा। हर अच्छे कार्य की शुरुआत गुजरात से, साबरमती के आसपास हुई है। इस ओर भी प्रयत्न करना है। भावात्मक प्रयोग के प्रोजेक्ट पर देश मे कार्य हो रहा है जो मानव के लिए कल्याणकर होगा।

पाच दिन के शिविर मे हमे भी अनुभव हुआ कि विद्यार्थी अनुशासित जीवन जी सकते है। दिशा-परिवर्तन की आवश्यकता है। मै दिशा-परिवर्तन को एक साधन मानता हू। हम सब इस प्रयोग में भागीदार बनें।

संस्कार-परिष्कार के सूत्र

हर आदमी के जीवन के दो पक्ष हैं—भीतरी और बाहरी। बाहरी बहुत स्पष्ट है। उसके बारे मे हम जानते हैं और उसे मूल्य देते हैं। भीतरी जीवन के बारे मे हमारी कोई जानकारी नही है, इसलिए हमारी दृष्टि मे उसका मूल्य भी नही है। हम अपने आचरणो और व्यवहारो के बारे मे सोचते है तो मन मे सहज ही प्रश्न उठता है कि इनका प्रेरक तत्त्व कौन है? कहा है? समाधान भी हम बाहरी दुनिया मे खोजते है और वह समाधान है परिस्थितिवाद।

परिस्थिति का हमारे जीवन मे हस्तक्षेप नही है, यह तो नही कहा जा सकता किन्तु जीवन की सारी प्रेरणाए उसी से उत्पन्न होती है, यह भी नही कहा जा सकता। समान परिस्थिति मे असमान आचरण और व्यवहार हमे देखने को मिलता है। यह असमानता भी चिन्तन को आगे बढाती है—प्रेरणा का तत्त्व केवल परिस्थिति ही नही है, कोई दूसरा भी है। गहरे मे उतरकर जिन्होने खोज की उन्हे पता चला कि आदमी परिस्थिति से उतना बधा हुआ नही है, जितना अपनी सस्कार-शृखला से बधा हुआ है।

सस्कारो की खूटी

ऊटो का काफिला जा रहा था। साझ के समय विश्राम के लिए ठहरा। पास मे थी एक धर्मशाला। काफिले से मुखिया ने खूटिया गाड़ी और ऊटो को बाध दिया। एक खूटी कम रह गई। मुखिया ने धर्मशाला के कर्मचारी से खूटी मागी। वह नही मिली। कर्मचारी ने कहा—'चलो, खूटी के बिना ही मैं ऊट को बाध देता हू।' कर्मचारी मुखिया के साथ आया और हथोडे से खूटी गाडने का स्वाग रचा। ऊट बैठ गया।

प्रभात का समय हुआ। खूटिया उखडने लगी। ऊटो का काफिला आगे बढ़ने लगा। ऊटो के चले जाने पर भी शून्य मे गाडी हुई खूटी वाला ऊट नही

उठा। बहुत प्रयास करने पर भी वह नही उठा। मुखिया ने धर्मशाला के कर्मचारी को सारी स्थिति बताई। वह आया और खूटी को उखाडने का स्वांग रचा। ऊट तत्काल खड़ा हुआ और अपने काफिले में जा मिला।

मनुष्य भी सस्कार की खूटी से बधा हुआ है। परिस्थिति उसे प्रभावित करती है पर उतनी मात्रा में जितनी मात्रा में सस्कार जमा हुआ है। फ्रायड ने चेतना के विभिन्न स्तरो का प्रतिपादन कर अन्तर्जगत् की गुत्थियों को समझने का रास्ता खोल दिया है। मनोविज्ञान के माध्यम से कर्मवाद को समझना बहुत सरल हो गया है। सस्कार की व्याख्या अब सुगमता से की जा सकती है। चेतन मन के स्तर पर जो घटनाए घटती है, वे प्रतिबिम्ब हैं। उनका बिम्ब इस स्थूल शरीर मे नही है। इस शरीर के भीतर और दो शरीर हैं—सूक्ष्म और सूक्ष्मतर। सस्कार का जन्म सूक्ष्मतर शरीर मे होता है। वे भीतर ही भीतर पकते हैं। जब पककर तैयार हो जाते है तब वे भावतरग का रूप लेकर हमारे मस्तिष्क और ग्रन्थितत्र के माध्यम से प्रकट होते है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। आचरण जैसा होता है वैसा ही सस्कार बन जाता है। यह एक वलय है। आचरण सस्कार को जन्म देता है और सस्कार परिपक्व होकर आचरण को प्रभावित करता है। इस स्थिति मे पहले किम पर ध्यान दे, यह प्रश्न है। आचरण पर ध्यान देना पहली आवश्यकता है। मनुष्य की आचरण के प्रति होने वाली जागरूकता गलत सस्कार के बीज-वपन से उसे बचा सकती है। इसीलिए अप्रमाद पर बहुत बल दिया गया। जो सतत जागरूक या अप्रमत्त रहता है। वह बुरे सस्कारो का बीज नही बोता और पुराने सस्कारो का शोधन कर डालता है। भगवान महावीर ने कर्मवाद के क्षेत्र मे कुछ नये रहस्यो का उद्घाटन किया। उन्होने सक्रमण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बुरे भाव या आचरण के माध्यम से जो सस्कार सचित किए उन्हे अच्छे सस्कार के रूप मे बदला जा सकता है अच्छे भाव और अच्छे आचरणो के द्वारा। अच्छे भाव और अच्छे आचरणो के द्वारा जिन सस्कारो का सचय किया उन्हे आदमी बुरे सस्कार के रूप मे बदल देता है, बुरे भाव और बुरे आचरण के द्वारा। यह सस्कार-परिवर्तन का सिद्धान्त अप्रमाद का सिद्धान्त है। इसका विकास होने पर ही सस्कार-परिष्कार की सभावना की जा सकती है।

आज सस्कार-परिष्कार की चर्चा बहुत है और यह बहुत अच्छी बात है। जिस दिन मनुष्य मे सस्कार-परिष्कार का प्रयत्न श्लथ होता है, वह दिन मनुष्य के लिए सौभाग्य का दिन नही होता, विकास का दिन नहीं होता। परिष्कार की भावना और प्रयत्न ये दोनो आवश्यक है और वे चल भी रहे है। उनका सबध परिस्थिति के साथ अधिक है, इसलिए परिवर्तन हो जाने पर भी परिष्कार नहीं हो रहा है। राजनैतिक और सामाजिक जीवन-प्रणालियां बदल जाती हैं, किन्तु

आन्तरिकता बदले बिना परिष्कार घटित नही होता। समाज के क्षितिज पर जो नये-नये विकास हुए और आयाम खुले, उनमे फिर से धुंधलका गहराने लगा। जब तक हमारा दृष्टिकोण सतुलित नही होगा, भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार की समस्याओं के प्रति हम जागरूक नही होंगे, तब तक संस्कार-परिष्कार की चर्चा सफलता के बिन्दु पर नही पहुचेगी। अध्यात्म की प्रेरणा है भीतरी जगत् मे प्रवेश, सूक्ष्मतर शरीर और चेतना का अनुभव। यह अनुभव इस समस्या-संकुल समाज की सबसे बडी अपेक्षा है, सबसे बडी सचाई है। इसे स्वीकृति देकर ही सस्कार-परिष्कार की धारणा को आगे बढाया जा सकता है।

परिवर्तन की परम्परा : १

आपका सीधा प्रश्न होगा, परिवर्तन तो दुनिया मे होता है किन्तु धर्म को हम शाश्वत मानते है, उसमे परिवर्तन कैसे हो सकता है ? दो तथ्य है हमारे सामने—एक शाश्वत और एक परिवर्तनशील। हम भौतिक पदार्थों को परिवर्तनशील मानते है। मकान बनता है, निर्मित होता है और ध्वस हो जाता है, मिट जाता है। शरीर बनता है और मिट जाता है। ससार मे जो कुछ भी बनता है, वह मिट जाता है। जो कृत है वह मिटता ही है। कृत भौतिक होता है, इसलिए मिटता है।

धर्म शाश्वत तत्त्व है। हर धार्मिक उस शाश्वत तत्त्व की उपासना करने के लिए अपने जीवन का अर्घ्य चढाता है। वह साधना करता है। यदि धर्म भी परिवर्तनशील है तो हम फिर शाश्वत की बात क्यो करें ? यह प्रश्न सामने आता है। यह निश्चित है, इसमे कोई सन्देह नही कि धर्म शाश्वत है। जो शाश्वत है उसमे परिवर्तन नही हो सकता। धर्म शाश्वत है उसमे परिवर्तन नही हो सकता। किसी भी देश और किसी भी काल मे धर्म मे परिवर्तन नही हो सकता। कोई तीर्थंकर आए, कोई भी आचार्य आए, धर्म मे कोई भी परिवर्तन नही ला सकता। धर्म शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है। वह बदलता नही, उसे कभी नही बदला जा सकता। ससार की कोई भी शक्ति उसे बदल नही सकती।

प्रश्न इतना-सा है कि हम समझ ले धर्म क्या है ? धर्म है अध्यात्म, आत्मा की पवित्रता, आत्मा की निर्मलता, आत्मा का सहज गुण। यह कभी नही बदलता। अहिसा शाश्वत धर्म है। आज तक किसी ने इसे नही बदला। राग-द्वेष न करना अहिसा है। यह नियम बदला नही जा सकता। जो स्वाभाविक होता है, उसे दुनिया मे कोई बदल नही सकता। बदले वे जाते है जो कृत हैं, किये हुए हैं। तर्कशास्त्र कहता है—'यत्-यत् कृतक तत तत् अनित्यम्'—जो-जो कृतक है, वह-वह अनित्य है यह अकाट्य नियम है। 'यत्-यत् अकृतक तत्-तत् नित्यम्, यथा आकाशम्'—जो अकृतक है वह नित्य है, जैसे आकाश। आकाश नित्य है। उसे

कभी बदला नही जा सकता। इतनी तेज सर्दी है, आकाश में कोई परिवर्तन नहीं आता। हमारी चमड़ी फट जाती है, बिवाई हो सकती है, पर आज तक कभी आकाश नही फटा, उसके बिवाई नही हुई। इतनी तेज वर्षा होती है, आकाश का कुछ नही बिगडता। इतनी भीषण गर्मी पडती है, आकाश कभी गर्म नही होता। कोई परिवर्तन नही होता उसमे, क्योंकि वह नित्य है, शाश्वत है। जैसे आकाश नित्य है, वैसे ही आत्मा भी नित्य है। चेतना नित्य है। उसे कभी बदला नही जा सकता। आज तक दुनिया मे चेतन अचेतन नही बना और अचेतन चेतन नही बना। दोनो मे अत्यन्ताभाव है, एक का दूसरे मे अत्यन्त अभाव है। एक दूसरे मे कभी नही बदला जा सकता।

धर्म है अध्यात्म। अध्यात्म ही वास्तव मे धर्म है। आत्मा की शुद्ध चेतना का व्यापार, शुद्ध चेतना का प्रयोग, जीवन के रागद्वेष-शून्य क्षण—ये सब धर्म हैं। धर्म की इस भाषा को कोई नही बदल सकता।

हम यह न भूले कि जहा एक धार्मिक व्यक्ति रहता है, दो रहते है, तीन रहते है, चार रहते है, दस रहते है, वहा धार्मिको का भी एक समाज बन जाता है, समूह बन जाता है, गण और सघ बन जाता है। साधुओ के भी गण है, सघ है। हमारे साधुओ का गण भिक्षुगण कहलाता है, भिक्षु शासन कहलाता है। साधुओ का भी गण होता है, समूह होता है, सघ होता है।

प्राचीन साहित्य म तीन शब्द आते है—कुल, गण और सघ। कुल छोटा होता है। गण उससे बडा होता है और सघ उससे भी बडा। एक शब्द है—शासन। शासन का तत्र भी होता है। वह बदलता है। व्यवस्था बदलती है। कुल, गण और सघ के नियम भी बदलते है, क्योकि नियम सुविधा के लिए बनाए जाते है, उपयोगिता के लिए बनाए जाते है। जब उनकी उपयोगिता या प्रयोजन समाप्त हो जाता है तब वे नियम बदल दिए जाते है, नये नियम बना दिए जाते हैं। व्यवस्थाए निर्मित होती है, बदलती है, परिवर्तित होती है।

अभी हम उस धर्म की चर्चा नही कर रहे है जो शाश्वत है। हम धर्म के परिपार्श्व मे होने वाली व्यवस्थाए, होने वाले नियम और अनुशासन की चर्चा कर रहे है। इनमे परिवर्तन आ सकता है, आया है और आएगा भी।

इतिहास को जानने वाला यह अस्वीकार नही करेगा कि नियम या अनुशासन सदा एक-सा कभी नही रह सकता। जो नियम बनता है, वह देश-काल-सापेक्ष बनता है। अध्यात्म देश-काल-सापेक्ष नही होता। उसमे परिवर्तन नही आ सकता। सगठन मे व्यवस्थाए होती है। उन व्यवस्थाओं मे परिवर्तन आया है, आता है और आता रहेगा। तब तक परिवर्तन आता रहेगा जब तक धार्मिक मे चिन्तन बना रहेगा। कोई भी धार्मिक चिन्तन-शून्य नही होता। वह परिस्थितियो की सर्वथा उपेक्षा नही कर सकता। वह परिस्थितियों के परिपार्श्व मे जीता है। वह

सारे परिवेश के संदर्भ मे, देश-काल के आधार पर अपने जीवन की सामाचारी का नियमन करता है। यह सामाचारी है। एक होता है धर्म और एक होती है सामाचारी। धर्म होता है आत्मा का, व्यक्ति का। सामाचारी होती है संघ की। उदाहरण से इसे समझें।

एक समय था, उसमे मुनि की सामाचारी यह थी कि वह चिकित्सा न कराए। वह सामाचारी निश्चित थी। इसीलिए बाईस परीषहों में एक परीषह है—'तेगिच्छ' चिकित्सा। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—'तेगिच्छ नाभिनंदेज्जा'—मुनि चिकित्सा की मन से भी वाछा न करे। उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्ययन मे एक सुदर सवाद उपलब्ध है। मृगापुत्र दीक्षा लेने के लिए तैयार होता है। माता-पिता उसे समझाते हुए कहते है—'पुत्र! तुम सुखोचित हो। तुम्हारा शरीर इतना कोमल और इतना मृदु है कि तुम प्रव्रज्या-मार्ग मे आने वाले भीषण कष्टो को कैसे सहन करोगे?' उन्होंने इतनी बातें बताईं कि कोई भी आदमी उन्हें सुनकर साधु बनने से विमुख हो सकता है। मृगापुत्र अपनी भावना मे दृढ था। वह दीक्षा से विमुख नही हुआ। अन्त मे माता-पिता ने कहा—'पुत्र! देखो, मुनि-जीवन अप्रतिकर्म का जीवन है। वहा बीमारी हो जाने पर चिकित्सा नही कराई जा सकती। तुम कैसे रह सकोगे?' मृगापुत्र ने कहा—"तात! जगल मे हरिण घूमता है। वह कभी बीमार भी होता ही होगा। बीमार हो जाने पर वह एक वृक्ष की छाह मे बैठ जाता है। जब ठीक होता है तब खाने-पीने के लिए चल देता है। वैसे ही मैं भी 'मिगचारिअं चरिस्सामि'—मृगचारिका का आचरण करूगा।"

एक परम्परा ऐसी रही है, एक जमाना ऐसा रहा है कि मुनि कभी चिकित्सा न कराए, क्योंकि जब शरीर को छोड ही दिया तो फिर चिकित्सा से क्या प्रयोजन? समय बदला। चिन्तन मे परिवर्तन आया। परिवर्तन मे यह आया कि जो 'जिनकल्प' की साधना कर रहा है, जो 'जिनकल्पी' है, वह चिकित्सा नही करा सकता, किन्तु जो 'स्थविरकल्पी' है, वह चिकित्सा करा सकता है, किन्तु सावद्य चिकित्सा नही करा सकता। संभव है छेद सूत्रो के समय मे यह अपवाद भी निर्मित हो चुका था कि जो सावद्य चिकित्सा कराएगा, उसे इतना प्रायश्चित्त आएगा। सावद्य चिकित्सा करानी नही है किन्तु बीमार साधक धृति से दुर्बल है, कष्ट को सहन नहीं कर सकता, ऐसी स्थिति मे यदि वह अपवाद मार्ग का सेवन करता है तो उसे अमुक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

मुनि आपरेशन कराते है। प्रश्न हो सकता है कि वे आपरेशन कैसे करा सकते हैं? प्रश्न ठीक है। वे आपरेशन नही करा सकते। किन्तु यदि धृति नही है, धैर्य नही है, सहन करने की शक्ति नही है, सहन नही कर सकता—इस अधृति की स्थिति मे वह आपरेशन कराता है। यह अपवाद मार्ग का सेवन है। इसके

लिए प्रायश्चित्त की विधि है।

छेद सूत्रो की मुख्य बात यही है कि मुनि को जो काम नही करना है, वह काम यदि कोई मुनि कर लेता है तो उसके पीछे कारण होता है—या तो प्रमाद होता है या अधृति होती है। अधृति का अर्थ है—धैर्य न रख पाना, सहन नही कर सकना।

दोष का सेवन दो प्रकार से होता है। या तो साधक दर्प (प्रमाद) के कारण दोष का सेवन करता है या अधृति के कारण दोष का सेवन करता है। दोष-सेवन को प्रतिसेवना कहते है। प्रतिसेवना के दो प्रकार है—दर्प प्रतिसेवना और कल्प प्रतिसेवना। दर्प प्रतिसेवना का अर्थ है—दर्प के कारण दोष का सेवन करना और कल्प प्रतिसेवना का अर्थ है—जान-बूझकर सहन न कर सकने के कारण दोष का सेवन करना।

हम जानते है कि साधु को रात मे न कुछ खाना है और न कुछ पीना है। किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी मुनि को रात मे भयकर प्यास लग गई और वह उस प्यास-जन्य कष्ट को सहने मे असमर्थ है, उसमे धृति नही है, वह पानी पी लेता है। उसे प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

मुनि जगल मे से गुजर रहे है। वे प्यास से क्लात हो गए। भयकर प्यास लगी है। कुछ मुनियो म धृति है। वे उस कष्ट को प्रसन्नतापूर्वक सह लेते है। कुछ मुनि उस कष्ट को सहन नही कर पाते। यह जानते हुए भी कि मुनि को कच्चा पानी नही पीना चाहिए, वे तालाब या झरने का पानी पी लेते है। उन्हे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यह 'चातुर्मासिक' शब्द प्रायश्चित्त की एक सज्ञा है।

मुनि रात को दवा नही ले सकता, यह सामान्य विधि है। कोई मुनि आपरेशन कराता है। डॉक्टर के निर्देशानुमार वह अत्यन्त आपेक्षिक स्थिति मे रात मे दवा ले लेता है। वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। उसे प्रायश्चित्त आता है। सारे प्रायश्चित्त निश्चित है—अमुक कार्य के लिए अमुक प्रायश्चित्त और अमुक कार्य के लिए अमुक प्रायश्चित्त।

आप पूछेगे कि पहले तो ऐसा नही होता था, अब कैसे हो रहा है ? यह जटिल प्रश्न है। सामान्यतया हर आदमी यह सोचता है कि पहले ऐसा नही होता था, आज हो रहा है या पहले ऐसा होता था, आज नही हो रहा है। सामान्य आदमी इसी आधार पर निर्णय करने का प्रयत्न करता है। यह आधार उचित नही है। इसका कोई अर्थ नही कि पहले होता था, आज नही हो रहा है या पहले नही होता था, आज हो रहा है। हमारे चिन्तन का आधार यह होना चाहिए कि आज जो हो रहा है वह आगम से सम्मत है या नही ? हमारी सारी परम्पराओ का एक-मात्र आधार है—आगम। वैदिक परम्परा के निर्णय का मानदड होगा कि यह

तथ्य वेद-विहित है या नही ? इसका समर्थन वेदों से होता है या नही ? बौद्ध अपनी परम्परा के लिए पिटकों का समर्थन खोजेंगे, इसी प्रकार जैन परम्परा का कोई विधि-विधान या आचरण होगा तो हमे यह देखना होगा कि यह कार्य आगमों से समर्थित है या नही ? आगमों मे इसकी चर्चा है या नही ? यदि है, तो चाहे उस परम्परा का हजार वर्षों मे भी प्रयोग न किया गया हो तो भी वह उचित है, उसका आज भी प्रयोग किया जा सकता है। एक उदाहरण आपके समक्ष प्रस्तुत करू। संभव है आप उसे सुनकर अचभा करेगे। वैसी स्थिति आप आखो से देख ले तो आपके मन मे अधृति उत्पन्न हो सकती है, मन मे अनेक प्रकार के विचार आ सकते है।

किसी साध्वी के पैर मे काटा लग गया। दूसरी साध्वी उसे निकाल नही पाती। तब साधु उस काटे को निकाले। इसमे कोई दोष नही है। किन्तु आज यदि किसी साधु को साध्वी के काटा निकालते कोई गृहस्थ देख ले तो इतना ऊहापोह हो जाए कि जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती। इन वर्षों मे यह काम नही पडा, परन्तु यह निर्दोष है, क्योंकि आगम-सम्मत है। आगम मे यह आज्ञा है कि साध्वी के कोई काटा चुभ जाए, साध्वी निकाल न सके तो साधु उस काटे को निकाले।

शास्त्र का विधान है कि साध्विया अस्वस्थ हो, भयभीत हों, उन्मत्त हों, कठिनाई मे हो तो साधु, दिन हो या रात, उनके स्थान पर जाए, उनकी परिचर्या करे, उन्हे सभाले। यही बात साधुओं के विषय मे है। साधुओ मे वैसी स्थिति हो तो साध्विया उनकी सार-सभाल करे। एक बार बीदासर मे वैसा हुआ था। श्रीमज्जयाचार्य वहा थे। उनको छोडकर सभी साधु मूर्च्छित होते चले गए। एक विचित्र घटना घटित हुई। उस समय सूर्योदय से कुछ पूर्व साध्विया वहा आयी और साधुओ की परिचर्या की। मूर्च्छित साधुओ को अदर ले गई। प्रश्न हो सकता है कि जब सौ वर्षों मे ऐसा नही हुआ तो फिर जयाचार्य के समय मे ही ऐसा क्यो हुआ ? यह प्रश्न उचित नही कहा जा सकता। सौ वर्षों मे जो घटना घटित नही हुई, वह आज हो सकती है और जो आज होती है वह आगे पाच सौ वर्षों मे भी न हो। आज भी वैसी घटनाए घट सकती है।

मै तो यह मानता हू कि अच्छा हुआ मूल सूत्रो मे अपवादो का उल्लेख हो गया। यदि यह अपवाद सूत्र ग्रन्थो मे ही उल्लिखित होते, मूल सूत्र मे उनका उल्लेख नही होता तो शायद हम कह देते कि शिथिलाचारियो ने ऐसे अपवाद चला दिए। किन्तु वे मूल आगमो मे है, अत. कोई कह नही सकता कि ये अपवाद शिथिलाचारियो के चलाए है।

छेद सूत्रो में इतने विचित्र अपवाद लिखे पड़े हैं कि मैं उनका उल्लेख इस परिषद् मे कर नही सकता। मुझे वैसा करना भी नही चाहिए। मैंने एक

संकेत मात्र दिया है। इन संदर्भों में यदि हम सोचें तो यह प्रश्न ही नहीं होता कि जो काम हमने आज तक नही किया, उसे आज क्यों कर रहे हैं ? चिन्तन का बिन्दु यह होना चाहिए कि जो किया जा रहा है, वह आगम-सम्मत है या नहीं। बस, इससे आगे हमारा तर्क नही जाना चाहिए। अन्यान्य तर्क हमारे चिन्तन को विकृत या धुधला बनाते हैं, सत्य का मार्गदर्शन नहीं करते।

चिकित्सा का प्रश्न चल रहा था। अभी-अभी पाच-सात वर्ष पूर्व ही आचार्यप्रवर ने एक विधि की घोषणा की—यदि विशिष्ट प्रयोजनवश कोई बड़ा आपरेशन कराए, बडे दोष के लगने की सभावना हो तो वह काम भिन्न सामाचारी मे किया जा सकता है। इसका तात्पर्य है कि वह साधक सघ की सामाचारी से भिन्न सामाचारी मे चला जाता है। इससे उसका साधुपन नही चला जाता। उसे केवल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मैं इसे परिवर्तन नही मानता। यह तो केवल विधि का प्रयोग है, परिवर्तन नही। परिवर्तन तो तब हो कि छेद सूत्रो मे ऐसी बातो का उल्लेख न हो।

छेद सूत्र मे उल्लेख है कि मुनि को गृहस्थ से अमुक-अमुक कार्य नही कराने चाहिए। यदि वह कराए तो प्रायश्चित्त का भागी होता है। यह प्रायश्चित्त जान-बूझकर कराए जाने वाले कार्यों के लिए ही तो आता है। यह अनजानी बात के लिए प्रायश्चित्त नही है। कोई आपरेशन कराता है। यह अनजाने मे तो नही कराता, जान-बूझकर कराता है। उसे प्रायश्चित्त भी आता है।

भगवती सूत्र मे एक चर्चा है। एक मुनि खडा है। वह नग्न है। उसका मस्सा नीचे लटक रहा है। किसी वैद्य ने उसे देखा। उसके मन मे दया आ गई। उसने सोचा—मुनि है। ध्यान कर रहा है। इसका मस्सा इसे कष्ट दे रहा है। बेचारा कष्ट मे है। कौन इसकी चिकित्सा करेगा ? वैद्य का मन करुणा से भर गया। उसने मुनि को सुला दिया। कुछ नही पूछा। उसने मस्से को काट दिया। अब प्रश्न होता है कि इस क्रिया से मुनि को क्या हुआ और वैद्य को क्या हुआ ? इसका उत्तर यह है—मुनि के धर्मकार्य मे विघ्न उपस्थित हुआ। उसके ध्यान मे बाधा आ गई। यदि वह मुनि उस क्रिया का अनुमोदन नही करता है, समर्थन नही करता है तो उसको कोई दोष नही लगता। उसके केवल धर्मान्तराय हुआ। आप कहेगे कि अनुमोदन बाकी कैसे रह गया ? काम तो सारा सम्पन्न हुआ, फिर अनुमोदन शेष कैसे रहा ? मुनि ध्यान मे थे और सम्पूर्ण अवधि तक वैसे ही ध्यान मे रहे। मन से भी शल्यक्रिया का अनुमोदन नही किया। जो ऐसा करता है, उसके केवल धर्मान्तराय होता है, कोई दोष नही लगता। यह भगवती सूत्र का स्पष्ट उल्लेख और विधान है।

इन सदर्भों से आप अनुभव करेंगे कि छेद-सूत्रों के विधि-विधान और परम्पराए बहुत ही विचित्र और गूढ रही हैं। उनके आधार पर परम्पराओ मे

कितना परिवर्तन होता रहता है कि जब किसी कार्य की अपेक्षा होती है, उसका आचरण कर लिया जाता है। यदि अपेक्षा नहीं होती है तो शताब्दियों में भी उसका आचरण नहीं होता।

मूल कठिनाई एक है। उसे हम समझें। वह कठिनाई यह है कि आचार्यों ने यह कहा कि छेद सूत्रो की जो सामाचारी है, प्रायश्चित्त के जो विधि-विधान हैं, उन्हें किसी गृहस्थ को तो क्या, किसी मुनि को भी सारे के सारे नही बताने चाहिए। किन्तु जो मुनि गीतार्थ हैं, उनके आदेशानुसार आचरण कर लेना चाहिए। मुनि भी तीन प्रकार के होते हैं—

१. **परिणत**—जिसका ज्ञान परिपक्व है, जो उत्सर्ग और अपवाद को जानता है, जो नयदृष्टि से सम्पन्न है।

२ **अपरिणत**—जिसका ज्ञान परिपक्व नही है, अधूरा है, जो आगम के रहस्यो को नही जानता।

३. **अतिपरिणत**—जो परिपक्व नही है, पर अपने आपको परिपक्व मान लेना है।

आगमो का विधान है कि अतिपरिणत मुनि को भी छेद-सूत्रों के विधि-विधान नही बताने चाहिए। कहा है—

'आमे घडे निहत्त जहा जल त घड विणासेइ।
तह सिद्धन्तरहस्स, अप्पाहार विणासेइ ॥'

—जैसे कच्चे घडे मे डाला हुआ जल घडे को भी नष्ट कर देता है और स्वयं भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अपरिणत मुनि को यदि छेद-सूत्रो के रहस्य दे दिए जाए तो वह स्वय भी नष्ट हो जाता है और ज्ञान को भी विकृत बना डालता है।

अतिपरिणत मुनि भी खतरनाक होता है। वह अपने आपको बहुत मान लेता है। सस्कृत मे ऐसे व्यक्ति को अर्द्धदग्ध या पडितमानी कहा गया है। वह यथार्थ मे पडित या ज्ञानी नही है, किन्तु अपने आपको पडित या ज्ञानी मान लेता है। उसे भी छेद-सूत्रो के रहस्य नही देने चाहिए, क्योकि वह उनका दुरुपयोग कर डालता है। उसका तर्क होता है कि जब ऐसा करने का विधान है तो फिर ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता ? ऐसा भी किया जा सकता है। वह एक विधान के आधार पर ऐसे अनेक विधि-विधान गढ लेता है, जो उसमे स्थान-स्थान पर छेद उत्पन्न कर देते हैं। उसको भी रहस्य नही बताने चाहिए। रहस्य केवल उसी व्यक्ति को बताने चाहिए जो यथार्थ रूप मे परिणत है। जो न अ-परिणत है और न अति-परिणत, उसे ही रहस्य देने चाहिए। वही मुनि गीतार्थ है जो ठीक निर्देश के अनुसार आचरण करता है, उसे ही रहस्य जानने का अधिकार है।

मुनियों की बात को मैं छोड़ देता हूं। श्रावक भी इन सब विधि-विधानों की

आलोचना करते हैं। मैं मानता हूं कि आलोचना कोई बुरी बात नही है। वह बुरी बात तब बन जाती है जब अनधिकृत व्यक्ति आलोचना मे पड जाता है। श्रावक का यह अधिकृत विषय नही है। मेरा अधिकार हो और मैं अधिकार के साथ समझ सकता हू, जिसका प्रतिपादन कर सकता हू, उसके बारे मे समीक्षा करना मेरे अधिकार की बात हो सकती है। किन्तु जिसका मैं पूर्व-पश्चिम भी नही जानता, जिसका मै 'क', 'ख' भी नही जानता और उसकी समीक्षा, मीमासा करने लगू तो उस विषय के साथ न्याय नही कर पाऊगा। यही नही, मै अपनी मनीषा और बुद्धि के साथ भी न्याय नही कर पाऊगा। यह अन्याय होगा।

इसलिए आचारशास्त्र के, सामाचारी के और परम्परा के जितने भी विषय है उनके निर्णय का दायित्व हम आचार्य पर और सघ पर छोड दे तो वह तर्कपूर्ण और विचारपूर्ण होगा।

तेरापथ धर्मसघ मे परिवर्तन की भी एक पद्धति है। आचार्यवर के समक्ष कोई प्रश्न आता है, आचार्यवर उस पर चिन्तन करते है, मनन करते है और कुछेक मुनियो को उस विषय पर चर्चा करने के लिए फरमा देते है।

मैं समझता हू कि दस-पन्द्रह वर्षो मे होने वाले सारे परिवर्तनो के पीछे यही प्रक्रिया रही है। माघ महोत्सव के समय जब अधिकाश मुनि उपस्थित होते हैं, तब अनेक प्रश्न चर्चे जाते है। वर्ष भर के चिन्तनीय और चर्चनीय विषयो की सूची बना ली जाती है। फिर वह मुनि-समिति उन विषयो पर चर्चा करती है। निष्कर्ष आचार्यवर के समक्ष प्रस्तुत होते है। उनमे से कुछेक निष्कर्ष आचार्यवर को नही भी जचते, परन्तु जो निष्कर्ष जच जाते है उनकी घोषणा कर देते है। उस दिन से वह विषय हमारी सामाचारी का अग बन जाता है। समूचे सघ मे वह विधि प्रचलित हो जाती है।

तो समूचे सघ के द्वारा और आचार्यवर की घोषणा के द्वारा जो बात सामाचारी का अग बनती है, हमे यह विश्वास कर चलना चाहिए कि वह कोई अचानक ही एक विस्फोट की भाति अवतरित नही होती, किन्तु बहुत चिन्तन-पूर्वक, सूझबूझपूर्वक, देश-काल की सारी मर्यादाओ और परिस्थितियो को देखकर आगम और परम्परा की पूरी मीमासा करने के बाद ही वह बात हमारे सामने आती है। यदि हम बहुत गहराई मे न जा सके तो कम-से-कम उसका अधिक भार न ढोए। हमे इस विश्वास के साथ चलना चाहिए कि सघ के द्वारा जो बात सम्मत हो गई है वह साधुत्व की मर्यादा मे दोष उत्पन्न करने वाली नही है।

जहाँ अध्यात्म का प्रश्न है, आन्तरिक साधना का प्रश्न है वहा बाहरी कसौटी का कोई अर्थ नही होता। वहा व्यक्ति को केवल अपनी साधना अपने लिए और अपने भीतर जाने के लिए होती है, अपने आपको ही देखने के लिए होती है। वहा न कोई चर्चा, न कोई समालोचना, न कोई समीक्षा, न प्रश्न और न उत्तर, न

समझना और न समझाना, वहा नितान्त व्यक्ति की ही बात होती है। जब हम व्यवहार की बात करते है, जब हम एक सगठन और एक सघ की बात करते हैं, जब हम मर्यादा और सामाचारी की बात करते हैं, जब हम एक नियमावली और एक आचार-सहिता की बात करते है तो वहा समझने और समझाने की बात आती है। वहा शास्त्र की बात आती है, परम्परा की बात आती है। वहां इन सबकी समीक्षा प्राप्त होती है। किन्तु इन सारे प्रश्नो के लिए मैंने आपके सामने एक-दो कसौटिया रख दी। यदि आप इन कसौटियो पर ध्यान दें तो बहुत सारे प्रश्न स्वय समाहित हो जाएगे। पहली कसौटी यह है कि हम इस तथ्य को समझने का प्रयत्न करें कि वह आगम के द्वारा सम्मत है या नही। यह सबसे बडी कसौटी है। यदि वह बात आगमसम्मत है तो चाहे वह व्यवहार मे आयी हुई हो या न हो, कोई कठिनाई नही है। दूसरी बात यह है कि उसे हमने ठीक से समझा या नही।

समय-समय की मनोवृत्ति भिन्न-भिन्न होती है। एक समय था कि जैन मुनि स्थान-स्थान पर जाकर प्रवचन नही करते थे। हमारे यहा भी यह प्रवृत्ति प्रचलित थी। हमारे साधु-साध्वी भी अन्यत्र जाकर प्रवचन नही करते थे। पूछने पर कहते—कुआ प्यासे के पास नही जाता, प्यासा कुए के पास आता है। हमें कही जाने की आवश्यकता नही है। जिसे सुनने की प्यास होगी, वह स्वय यहा आएगा। अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ। स्थान-स्थान पर आयोजन होने लगे। साधु-साध्वी विभिन्न स्थानो मे प्रवचन करने के लिए जाने लगे। आचार्यश्री के सामने प्रश्न आया। इसका उत्तर जो दिया गया वह मुझे याद है। आचार्यश्री ने कहा—प्यासा कुए के पास जाता है, यह पुराने जमाने की बात थी। आज तो कुआ प्यासे के पास जाता है। घर-घर मे ट्यूबवेल और नल लगे हुए है। इसका तात्पर्य हुआ कि कुआ प्यासे के पास जा रहा है। यह क्या, आने वाले युग मे और भी आश्चर्यकारी बाते सामने आएगी। ऐसी कल्पनाए हो चुकी है, सिद्धान्त विकसित हो चुके है, ऐसे घर बनेगे जो स्वचालित होगे। उनमे न किवाड बन्द करने की आवश्यकता होगी, न पखा चलाने की आवश्यकता होगी। आप किवाड के सामने जाएगे, वे स्वत खुल जाएगे। आप कमरे में प्रवेश करेंगे, पखे स्वय चलने लगगे। बिजली जल जाएगी। अपने आप रसोई बन जाएगी, मशीन उसे टेबल पर परोस देगी, कोई नौकर की आवश्यकता नही है, कोई रसोई बनाने वाले की भी आवश्यकता नही। केवल खाना आपको पडेगा। यह प्रश्न भी समाप्त हो जाएगा कि रसोई स्त्रिया ही क्यो करती है, पुरुष क्यो नही करते ? रसोई तब मशीने बनाएगी, यत्र करेगे। यह केवल कल्पना ही नही है। इसके सिद्धात निश्चित हो चुके है, योजनाए बन चुकी है।

तो इन सारे परिवर्तनो मे भी हम देखते है कि व्यवहार के स्तर पर, देश-काल-सापेक्ष होने वाले परिवर्तनो की सीमा मे यदि कोई भी परिवर्तन आता है,

वह न अवांछनीय होता है, न असभव होता है, न असम्मत होता है और न कोई शास्त्र या परम्परा के विरुद्ध होता है। मात्र इतना-सा विचार आता है कि पहले ऐसा था, आज ऐसा है। मैं समझता हू कि आचार्य भिक्षु और महाप्रज्ञ श्रीमज्जयाचार्य ने हमारा जो मार्गदर्शन किया है, वह यदि नही होता तो शायद कुछ कठिनाइया होतीं। किन्तु उन्होने सुन्दर मार्गदर्शन दिया, जिसके सहारे हम सारी कठिनाइयो को पार करने मे समर्थ है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—'मैं जो कर रहा हू, वह अपने व्यवहार से शुद्ध जानकर कर रहा हू, हो सकता है भविष्य मे होने वाले साधुओ, बहुश्रुत मुनियों को वह ठीक न लगे। तो वे उसे बदल सकते हैं, छोड सकते है।' यह बहुत बडी बात कही है आचार्य भिक्षु ने। ऐसे सत्य-शोधक विरले ही हुए हैं जो यह बात कह सके कि मैं जो कर रहा हू वह यदि ठीक न लगे तो उसे छोड देना। मेरा कोई आग्रह नही है उसे वैसे ही रखने का। ऐसे व्यक्ति तो बहुत हुए हैं जिन्होने कहा कि मैं जो रेखा खीच रहा हू, इसे किसी ने बदल दिया तो वह गुनहगार होगा। किन्तु आचार्य भिक्षु जैसे सत्यान्वेषक, सत्य-शोधक नही मिलेगे। उन्होंने कहा—मैं जो कुछ कर रहा हू, उसे मै शुद्ध जानकर कर रहा हू, व्यवहार मे शुद्ध जानकर कर रहा हू। किन्तु बहुश्रुत मुनियो को यह ठीक नही लगे तो वे इसे छोड दें, बदल दे। ऐसी बात वही व्यक्ति कह सकता है जो सत्य के लिए सर्वथा समर्पित होता है।

श्रीमज्जयाचार्य ने कुछ बातें बदल दी जो आचार्य भिक्षु के समय मे प्रचलित थी। बीसो बाते बदल दी। किसी व्यक्ति ने पूछा—'महाराज! मन मे एक प्रश्न आता है कि जो काम आचार्य भिक्षु करते थे, उन्हे आपने छोड दिया। मैं मानता हू कि आपने इनको छोडा है तो सावद्य जानकर या अकरणीय जानकर छोडा है। केवल ऐसे ही नही छोडा है। तो मन मे शंका उत्पन्न होती है कि या तो इन बातो का आचरण करने वाले स्वामीजी साधु नही थे या आप इनका आचरण करने वाले साधु नही है। दोनो मे से एक साधु है। दोनो साधु नही हो सकते। या तो वे दोषी थे या आप दोषी है। दोनो निर्दोष नही हो सकते।' जयाचार्य ने सुना और कहा—'दोनो दोषी नही है। दोनो निर्दोष है। दोनो उचित है। स्वामीजी अपने व्यवहार मे शुद्ध जानकर उनको करते थे और मैंने अपने व्यवहार मे शुद्ध जानकर उन्हे छोडा है। दोषी कोई नही।

आचाराग सूत्र (५।९६) का एक वाक्य है—**'समियंति मण्णमाणस्य समिया वा, असमिया वा, समिया होइ उवेहाए। असमियत्ति मण्णमाणस्स समिया वा, असमिया वा, असमिया होइ उवेहाए।'**

—सघ अपने व्यवहार मे शुद्ध जानकर कोई आचरण करता है, आचार्य अपने व्यवहार मे शुद्ध जानकर किसी आचरण का प्रवर्तन करते हैं, फिर चाहे वह किसी

को असम्यक् ही लगे, वह सम्यक् ही है। यदि बिना सोचे-समझे, ठीक निर्णय लिये बिना, ठीक व्यवस्था किए बिना, चिन्तन किए बिना कोई काम कर लिया, फिर चाहे वह सम्यक् ही हो, वह असम्यक् ही होगा, दोषपूर्ण ही होगा। ऐसा आचरण मुनि को नही करना चाहिए। आज यहा कोई केवली नही है, सर्वज्ञ नही है। व्यवहार के आधार पर निर्णय किया जाता है। यदि व्यवहार मे ठीक है, सम्यक् है, तो वह आचरण सम्यक् है। वह आचरण दोषपूर्ण नही होता। इस सिद्धान्त को हम ठीक से समझें। इन बातो पर हम मनन करें, इनका विश्लेषण करे तो होने वाले परिवर्तनो के विषय मे मन मे कोई उलझन नही आएगी। इससे मार्ग स्पष्ट होगा। जिस देश-काल मे हम जी रहे हैं, उस देश-काल के अनुसार यदि कोई व्यवस्था परिवर्तन मागती है, जो परिवर्तन अपेक्षित है तो उस परिवर्तन को करने मे कोई दोष नही है। कई बार ऐसा होता है कि देश-काल की अपेक्षा के अनुसार औचित्यपूर्ण वाछनीय परिवर्तन न किया जाए तो शायद कही-कही कठिनाई पैदा हो सकती है।

मैंने अनेक बातो की चर्चा प्रस्तुत की है तथा उनके पीछे रहे हुए दृष्टिकोण, सिद्धान्त और प्रक्रिया—इन तीनो को समझाने का प्रयास किया है।

चावल पके हैं या नही, इसे देखने के लिए ऊपर से थोडे चावल लेकर देख लिये जाते है। सारे बरतन मे हाथ नही डाला जाता। इससे आप समझ सकते है कि परम्परा के परिवर्तन के पीछे हमारा क्या दृष्टिकोण है? क्या प्रक्रिया है? मै समझता हू कि इसे समझने के बाद प्रायः सैकडो उलझने स्वत समाप्त हो जाती है।

परिवर्तन की परम्परा : २

एक प्रश्न और सामने आता है कि समय-समय पर होने वाले परिवर्तन श्रद्धा को हिला देते है, एक जमी हुई बात पर श्रद्धा जो टिकी रहती है, वह परिवर्तनो के साथ डावाडोल हो जाती है। इस प्रश्न को मैं अस्वाभाविक नही मानता क्योकि हमने श्रद्धा को भ्रान्तरूप से समझ रखा है। श्रद्धा के विषय मे हमारी समझ भ्रान्त है, सही नही है। लोगो ने मान लिया कि श्रद्धा से काम चल जाएगा, जानने की जरूरत नही है। सचाई यह नहीं है। सचाई यह है कि पहले जानना होता है, जानने के बाद श्रद्धा होती है। जब जानना ही नही तो श्रद्धा कैसे होगी ? जब ज्ञान ही नही है तब श्रद्धा का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? ज्ञान और आचरण इन दोनो के बीच मे एक सेतु है, एक पुल है। वह है श्रद्धा। श्रद्धा का सेतु मजबूत होता है तो हमारा ज्ञान आचरण तक पहुच जाता है। श्रद्धा का सेतु कमजोर होता है तो ज्ञान ज्ञान मात्र रह जाता है, वह आचरण नही बनता। पहले हम जानते है। जानने के बाद हमारे मे श्रद्धा होती है।

मुझे लगता है कि लोगो ने अज्ञान को ही श्रद्धा का नाम दे दिया, अज्ञान को ही श्रद्धा मान लिया। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है—

'चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जतुणो।
माणुसत्त सुई सद्धा सजमम्मि य वीरिय ॥

—चार वस्तुए दुर्लभ है। उनमे पहली है—मनुष्यता। दूसरी है—श्रुति। प्राचीन-काल मे श्रुत का अर्थ ज्ञान था। ज्ञान सुनने से प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञान का नाम श्रुति अथवा श्रुत हो गया। जैन परम्परा मे ज्ञान के पाच प्रकारो मे दूसरा प्रकार है—श्रुतज्ञान। वैदिक साहित्य मे श्रुति का मतलब है—वेद अर्थात् ज्ञान। तीसरी दुर्लभ वस्तु है—श्रद्धा और चौथी है—आचरण। श्रद्धा के बाद आचरण आता है। श्रद्धा का अर्थ है घनीभूत इच्छा, प्रबलतम इच्छा। ऐसी इच्छा जो इतनी उत्कट बन जाए कि उसको पूरी करना आवश्यक हो जाए।

इसका एक नाम है—दोहद-लालसा। हम कहते हैं—उस गर्भवती स्त्री के मन में दोहद उत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है कि उसके मन मे अमुक वस्तु के प्रति तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हुई है, जिसे पूरी करना अत्यन्त जरूरी है। यदि यह अभिलाषा पूरी नही होती या नही की जाती तो शारीरिक और मानसिक हानिया उत्पन्न हो जाती है। यही श्रद्धा है, घनीभूत इच्छा है। जब कोई आदमी उस विषय को जानता ही नही, फिर उसकी उस विषय मे श्रद्धा कैसे होगी? यदि धर्म के विषय में आप कुछ नही जानते, उसके विषय मे आपका ज्ञान नही है तो उसके प्रति, धर्म के प्रति आपकी श्रद्धा नही होगी। हम अज्ञान को श्रद्धा न मानें। इस भ्रान्ति को दूर करें। हम यह मानकर चले कि श्रद्धा होती है ज्ञान के बाद। ज्ञानोत्तर है श्रद्धा। जिस धर्म, नियम या व्यवस्था या परम्परा को हम नही जानते, उनके विषय मे श्रद्धा नही होगी। यदि श्रद्धा होती है, वास्तव मे होती है तो वह इतनी कमजोर नही होती कि थोडी-सी बात से बन जाए और थोडी-सी बात से टूट जाए। श्रद्धा ऐसी हो ही नही सकती। जो ऐसी होती है वह श्रद्धा नही, कुछ और है। भ्रान्तिवश हम उसे ही श्रद्धा मान लेते है। श्रद्धा पूरी जानकारी के बाद होगी और जो पूरी जानकारी के बाद होगी वह वायु के झोके से टूटेगी नही, उडेगी नही। कभी नही टूटेगी, कभी नही उडेगी।

बहुत बार हम सुनते है कि यह परिवर्तन हुआ है और लोगो की श्रद्धा हिल गई। यह अयथार्थ है। कहना यह चाहिए कि अमुक विषय की जानकारी नही थी, अज्ञान था और वह अज्ञान थोडा हिल गया। अज्ञान हिलना ही चाहिए, कोई आपत्ति की बात नही है।

परिवर्तन का जहा प्रश्न है, सारी बाते परिवर्तन की नही होती। कुछ बाते परिवर्तन की होती हैं, कुछ नयी होनी है और कुछ चिन्तनीय होती है। अनेक रूप बनते है परिवर्तन के। उदाहरण के लिए माइक का प्रश्न है। हम पहले माइक मे नही बोलते थे, आज बोलते है। इसे परिवर्तन नही कहा जा सकता। परिवर्तन तो तब हो जब पहले एक बात चल रही थी, उसका रूपातरण कर दिया गया, उसे बदल दिया गया। पहले माइक था ही नही। इसलिए उसमे बोलने या न बोलने का प्रसग ही नही आया। आज माइक है। हम उसमे बोलते है। यह एक नयी बात हमारे सामने आयी। यह है नये का स्वीकरण। इसे परिवर्तन नही कहा जा सकता।

पहले कपडे नही धोते थे, अब धोते है, यह है परिवर्तन। पहले भी कपडे धोते थे। केवल दो-तीन कपडे नही धोते थे, और सारे कपडे धोते थे। रात मे पहनने-ओढ़ने के सभी कपडे धोते थे। दिन मे पहनने-ओढ़ने के कपडे नही धोते थे। अब ये कपडे भी धोते हैं। यह है परिवर्तन। प्रश्न हो सकता है कि क्या ऐसे परिवर्तन किए जा सकते हैं? जब आगम मे यह निषेध हो कि कपडे नही धोने चाहिए तब

क्या आचार्य को यह अधिकार है कि वे इस बात को बदल दें ?

दो तरह की बातें होती है। कुछ बातें 'करणसत्तरी' की कोटि में आती हैं और कुछ बातें 'चरणसत्तरी' की कोटि मे आती हैं। 'करणसत्तरी' का अर्थ है, क्रिया (उत्तरगुण) की सत्तर बाते और 'चरणसत्तरी' का अर्थ है, आचरण (मूलगुण) की सत्तर बातें। सत्तर-सत्तर बातो की दो कोटिया की गई। मूल बातो को नही बदला जा सकता। वे परिवर्तन की कोटि मे नही आती। इन 'चरण-सत्तरी' की सभी सत्तर बातो में परिवर्तन नही किया जा सकता। किन्तु 'करण-सत्तरी' की जो बातें है उन बातो मे आचार्य एक अपेक्षा का नियोजन कर सकते हैं। अपेक्षा, जैसे सूत्र का विधान है कि विभूषा के लिए कपडा नही धोना चाहिए। जो मुनि विभूषा का अर्थी होकर कपडे धोता है उसे प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अब यह व्याख्या की बात रही कि हम कपडे धोने की विभूषा मानें या न मानें। यह हमारे चिंतन पर निर्भर है। शास्त्र का विधान है कि विभूषणशीलता के लिए कपडे न धोए जाए। हम विभूषा के लिए कपडे धोते है। यह कोई भी निश्चित रूप से नही कह सकता।

कोई मुनि बीमार है। दवा लगाई, तेल लगाया शरीर पर, कपडा चिकना हो गया। उसे धोया जा सकता है। यह प्राचीन परपरा है। यह विभूषा के लिए नही है। आचार्य के कपडे धोए जा सकते है क्योकि आचार्य के पास बहुत सारे लोग आते है, बडे-बडे आदमी भी आते है, कपडे यदि मैले हो तो जनता मे अपवाद होता है। इस लोकापवाद से बचने के लिए आचार्य के वस्त्र धोए जा सकते है यह बहुत प्राचीन परम्परा है और तेरापथ सघ मे भी यह चालू है। एक बार जयाचार्य के समय मे ऐसा प्रसग आया। कुछ साधुओ ने यह प्रश्न उपस्थित किया—'आचार्य के कपडे नही धोने चाहिए।' श्रीमज्जयाचार्य ने कहा—'आचार्य के कपडे धोने मे कोई आपत्ति नही है।' काफी तर्क-वितर्क हुए। विवाद बढ़ गया। बात छोटी थी, पर विवाद ने नया रूप धारण कर लिया। श्रीमज्जयाचार्य ने इसका समाधान निकाला। उन्होने कहा—'आचार्य के कपडे धोने मे कोई दोष नही है। मैं इसमे कोई दोष नही मानता। मैं इस विषय मे किसी आचार्य को नही रोकता। मैं स्वय आचार्य होते हुए भी अपने कपडे नही धुलाऊगा। आज से मैं इस विधि को केवल अपने लिए छोडता हू।' यह एक समाधान था। उस समय स्थिति को सभालना भी आवश्यक था। उन्होने इस समाधान से स्थिति को सभाला। विवाद समाप्त हो गया। कुछ मुनियो ने जयाचार्य से कहा—'जब दोष नही है, आप दोष मान नही रहे है तब इस विधि को क्यो छोड रहे हैं ?' उन्होने कहा—'मैं छोड रहा हू, मैं नही धुलाऊगा। भावी आचार्य के लिए कोई प्रतिबन्ध नही है। वे चाहे तो कपडे धुला सकते हैं। कोई आपत्ति नही है। सिद्धान्तत इसमे कोई बाधा नही है। फिर भी मैं व्यक्तिगत रूप से इसे छोड रहा हूं। मेरा

यह व्यवहार ऐसा ही है जैसे एक पांच वर्ष का बच्चा मकान के ऊपर चढ़ा और छज्जे पर आकर बैठ गया। उसने मा से कहा—मां ! मुझे लड्डू दे, अन्यथा मैं छज्जे से गिर पड़ूगा। ऐसी स्थिति में क्या करे मा बेचारी ? वह मुसीबत मे फस गई। बच्चे को उसने समझाया। वह नही माना। तब मां ने उसे लड्डू ला दिया। तो मैंने भी गिरते हुए बच्चे को लड्डू दिया है। मैं कपडे धोने की प्रवृत्ति में दोष नही मानता, फिर भी इसे छोड़ता हू।'

बीमार के कपडे धोए जाते हैं, आचार्य के कपड़े धोए जाते हैं, रात्रि के कपड़े धोए जाते है और विशेष परिस्थिति मे सामान्य साधु के कपडे भी धोए जाते हैं।

आज कपडे धोने की जो विधि की है उसका भी एक निमित्त बना है। आचार्यश्री पजाब की यात्रा सम्पन्न कर दिल्ली पधारे। गर्मी के दिन थे। ज्येष्ठ, आषाढ का महीना था। भयकर गर्मी पड़ रही थी। लम्बे-लम्बे विहार और पजाब की वह चिकनी मिट्टी। शरीर पसीने से लथपथ हो जाता। रेत उस पर चिपक जाती। कपडे मटमैले हो गए। उस समय तक कपडे नही धोते थे। कपड़े बहुत गदे हो गए। सयोग ऐसा मिला कि जिस दिन हम दिल्ली पहुचे उसी दिन प्रेस कार्फेस का आयोजन रख लिया गया। पहली कांफ्रेस थी। बहुत प्रतिनिधि आए। उतनी बडी कार्फेस फिर मैंने नही देखी। अनेक वरिष्ठ पत्रकार आए। डालमिया हाउस का विशाल हॉल। एक ओर आचार्यश्री और साधु-साध्वी बैठ गए तो दूसरी ओर पत्र-प्रतिनिधि तथा अन्यान्य सभ्रान्त व्यक्ति बैठ गए। प्रेस कांफ्रेस प्रारम्भ हुई। प्रश्नोत्तर होने लगे। एक पत्रकार ने पूछा—'आचार्यजी ! यह क्या ? इतने साधु-साध्वी बैठे हैं। किसी के चेहरे पर तेज नही। ऐसा लगता है कि मानो इनको खाने को न मिला हो, कपडे न मिले हो। क्या यही ब्रह्मचर्य का तेज है ? कितने गन्दे कपडे ?' प्रेस कांफ्रेस मे अणुव्रत की चर्चा होनी थी। परन्तु साधु-साध्वियो को देखकर पत्रकार के मन मे दूसरा ही प्रश्न उठ खडा हुआ। अणुव्रत कही छूट गया और सबकी आखें साधुओ के कपडो पर अटक गईं। धूल से सने कपडो और चेहरो पर सबका ध्यान अटक गया। सचमुच बडी परेशानी का अनुभव हुआ। सोचा कुछ और ही था और हुआ कुछ और ही। सब पत्रकार उस प्रश्न को ही मुख्य मान बैठे। आचार्यश्री ने कहा—'हम बहुत लम्बी यात्रा करके आ रहे है। गर्मी के दिन हैं। धूप मे निरन्तर चलने के कारण सबके चेहरे काले-काले-से हो गए है। ऐसा होता है। कोई आदमी दस दिन की रेल-यात्रा कर आता है तो उसके कपडे कोयले-से काले हो जाते है। चेहरा काला हो जाता है।' आचार्यश्री ने इस प्रश्न को समाहित करना चाहा, पर उसका हृदय-ग्राही समाधान नही हो सका।

उसी रात को आचार्यवर ने कहा—'जब हमारा सम्पर्क सीमित था तब यह नियम बना था कि आचार्य के कपडे धोए जा सकते हैं क्योंकि उनके सम्पर्क में

अनेक विशिष्ट व्यक्ति आते है, बडे लोग आते हैं। लोकापवाद न हो, यह इसका मूल हेतु था। आज हमारे साधु-साध्वियां दूर-दूर देशों में विहार करते है। बडे-बडे आयोजन होते है। विशिष्ट व्यक्ति सम्पर्क मे आते हैं। बड़े-बडे राजनयिक तथा सामाजिक कार्यकर्त्ता सम्पर्क मे आते है। जो बात केवल आचार्य के लिए थी वह आज सबके लिए हो गई। ऐसी स्थिति मे चिन्तन होना चाहिए। लोकापवाद न हो। जैन धर्म के प्रति लोगो मे घृणा और तिरस्कार के भाव न पनपे—इस ओर हमे प्रयत्नशील रहना चाहिए।'

यह चिन्तन की भूमिका बनी। आखिर सभी इस निष्कर्ष पर पहुचे कि वर्तमान परिस्थितियो के सन्दर्भ मे कुछ सोचा जाना चाहिए। वस्त्रो के प्रक्षालन की एक सीमा निश्चित होनी चाहिए। यह है परिवर्तन। इसे परिवर्तन कहा जा सकता है कि पहले नही था और अब हो गया। किन्तु जो बिलकुल नयी बात हो, जैसे—माइक मे बोलना, यह परिवर्तन नही है। यह एक नया प्रश्न है। जब नया प्रश्न उपस्थित होता है तब उसके लिए शास्त्र का निरीक्षण, चिन्तन और अपना विवेक काम आता है।

अब आप पूछ सकते है कि माइक मे बोलना है या नही ? शास्त्रो मे न तो कोई माइक का नाम है और न कोई बोलने की चर्चा है। जब चर्चा ही नही है तो फिर ये सारी बातें कैसे होगी। जब गाव ही नही तो फिर सीमा की बात कैसे होगी ? न्यायशास्त्र का एक न्याय है—न हि वध्यापुत्र गौर कृष्णो वा चिन्त्य—बाझ का पुत्र काला है या गोरा—यह चिन्तन नही किया जा सकता, क्योकि उसके बेटा होना ही नही। जब माइक ही नही था तो उसमे बोलना चाहिए या नही, यह प्रश्न ही नही होता। अब प्रश्न होता है कि जो बात शास्त्रो मे नही है उसके लिए क्या करना चाहिए ? यह बहुत अच्छा प्रश्न है। इस विषय मे हमारी परम्परा है और आगम का विधान भी है कि जब केवलज्ञानी, आगम पुरुष, दसपूर्वी, अतिशयज्ञानी विद्यमान हों तो वे जो कहे वैसा कर लेना चाहिए। किसी आगम की जरूरत नही है। आगम का एक विधान है कि साधु को वेश्या के मोहल्ले मे गोचरी नही जाना चाहिए। किन्तु भद्रबाहु स्वामी आगम पुरुष थे। स्थूलिभद्र मुनि उनके समक्ष आए और वेश्या के घर चातुर्मास करने की आज्ञा मागी। उस वेश्या के घर जिसके घर मे गृहस्थ जीवन के बारह वरस बिताए थे और रागरग मे रहे थे। उसी के घर चातुर्मास करने की आज्ञा मागी। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—जाओ, वहा चातुर्मास करो। आप कह सकते है कि वेश्या के मोहल्ले मे गोचरी जाना भी निषिद्ध है तो फिर चातुर्मास की आज्ञा कैसे दे दी ? आगम पुरुष स्वतन्त्र होता है। जो उचित समझता है वह वैसे ही करता है। उसकी आज्ञा दे सकता है। किसी नियम या विधि-विधान की जरूरत नही। वह स्वय शास्त्र है, नियम है, विधि-विधान है। वह स्वय प्रमाण है।

दूसरा है श्रुत। आगम पुरुष की अनुपस्थिति में उनके वचनों के अनुसार वर्तन किया जा सकता है, शास्त्रो से काम लिया जा सकता है। शास्त्र का स्थान है दूसरा। पहला स्थान है आगम पुरुष का और दूसरा है शास्त्र का। आगम पुरुष का स्वत. प्रामाण्य है और शास्त्र का परत. प्रामाण्य है। आगम पुरुषो ने जो कहा, जिसका विधि-विधान किया, उसके आधार पर आचार और विधि-विधान का सचालन करो।

अब प्रश्न है कि यदि शास्त्र न हो तो क्या करना चाहिए? इसका समाधान है कि उस स्थिति में 'आज्ञा' के अनुसार काम करो। किसी आचार्य ने कोई आज्ञा दी किसी समय, वह आज्ञा किसी की जानकारी मे हो तो उस आज्ञा के आधार पर काम करो। आचार्य ने अपनी आज्ञा किसी के द्वारा प्रेषित कर दी कि तुम्हें यह काम करना है, तो उसके आधार पर काम किया जा सकता है।

आज्ञा भी यदि प्राप्त न हो तो क्या करना चाहिए? ऐसी स्थिति मे 'धारणा' का प्रयोग होता है। पुराने साधुओं की इस विषय मे यह धारणा है, अमुक समय मे आचार्य ने ऐसा व्यवहार किया, उस धारणा के आधार पर काम करो। तेरापथ मे भी बहुत सारे काम इसी आधार पर किए गए कि स्वामीजी ने वैसा किया था, इसलिए वह आचरण कर लिया गया।

यदि उपरोक्त चारो बाते न हो तो फिर 'जीत व्यवहार' का सहारा लिया जा सकता है। जीत व्यवहार का अर्थ है कि जब कोई नया प्रश्न सामने आता है, नयी चर्चा का प्रसग उपस्थित होता है, नये तर्क-वितर्क आते हैं, नयी बात आती है तो बहुश्रुत साधु उस पर चिन्तन-मनन करें, आगमो के सन्दर्भ देखें और जो बात सम्यक् व्यवहार मे समझ मे आ जाए, शुद्ध नीति के द्वारा जो निष्कर्ष सामने आए, उसका आचरण कर ले। यह जीत व्यवहार है। हमारी बहुत सारी व्यवस्थाए, अनेक परम्पराए और अनेक नियम इस जीत व्यवहार के आधार पर चलते हैं।

श्रीमज्जयाचार्य के सामने एक प्रश्न आया कि बहुश्रुत जो निर्णय करे वह मान्य हो तो कौन कह सकेगा कि मैं बहुश्रुत नही हू? हर एक कहेगा—मैं बहुश्रुत हू। इसके समाधान मे कहा गया कि बहुश्रुत वही माना जाएगा जिसे आचार्य बहुश्रुत मानें। अपनी इच्छा से कोई बहुश्रुत नही माना जा सकता। जिसे आचार्य की मान्यता प्राप्त होगी, उसी बहुश्रुत की बात मान्य हो सकेगी। इस भूमिका के आधार पर जितने भी नये विषय हैं, जिन बातो का शास्त्रो मे स्पष्ट निर्देश नहीं है, न विधान है और न निषेध, इस कोटि के जितने प्रश्न सामने आते है, उन सारे विषयो का निर्णय जीत-व्यवहार के आधार पर कर लिया जाता है।

कुरान शरीफ का एक सुन्दर प्रसग है। मोहम्मद साहब अपने खलीफो को प्रचार के लिए चारो ओर भेज रहे थे। एक खलीफा से कहा गया, 'तुम धर्म-प्रचार के लिए जाओगे तो कई प्रश्न सामने आएगे, कई समस्याए सामने आएंगी उन

सबका समाधान कैसे खोजोगे ?' उसने कहा—'मैं उसका समाधान कुरान शरीफ मे खोजूगा।' मोहम्मद साहब ने कहा—'बहुत अच्छी बात है। परन्तु यदि वह समाधान कुरान शरीफ मे नही मिला तो कहा खोजोगे ?' उसने कहा—'फिर अपने विवेक मे उसका समाधान खोजूगा।' मोहम्मद साहब ने कहा—'अच्छा, तुम जाओ। धर्म-प्रचार करने मे तुम सफल हो सकोगे। जो बात कुरान शरीफ मे नही है, उसे अपने विवेक से ही समाहित करनी होगी।'

हम अपने वर्तमान के चिन्तन को कभी भी नियत्रित नही कर सकते। आप कह सकते है कि सौ वर्ष पूर्व हम ऐसा नही करते थे, भिक्षु स्वामी के समय में हम ऐसा नही करते थे, आज क्यो करते है ? इसका सीधा-सा उत्तर है। उनके जमाने मे कोई जरूरत नही हुई, नही किया, आज जरूरत है उसे कर लिया। उसका समाधान वर्तमान के ही साधुओ से किया जाएगा। इसके लिए हम क्या करेंगे ? हमारे पास जो साधन है, हम देखेगे कि आगम मे इसका क्या विधि-विधान है, हमारी परम्परा मे इसका क्या विधान है, सबको देखेंगे, उनमे यदि समाधान नही मिलेगा तो हमारा चिन्तन, हमारा विवेक, हमारी बुद्धि और हमारा विमर्श ही काम देगा। उसी के आधार पर निर्णय लिया जाएगा कि वर्तमान स्थिति मे क्या करना चाहिए, क्या नही करना चाहिए, यह है परिवर्तन का आधार और इसी आधार पर नयी बाते स्थापित की जाती है, पुरानी बातो को छोडा जाता है और परिवर्तनीय बातो को बदला जाता है।

इसी सदर्भ मे आचार्य भिक्षु ने जो एक व्यवस्था दी थी, वह गत पचीस सौ वर्षों के इतिहास मे नही मिलेगा। उन्होने संगठन को जितना उबारा है, उसे अद्भुत कहा जा सकता है। जिस आधार पर सगठन टूटते है, टुकडे-टुकडे होते है, उन सभी तत्वो से उन्होने सगठन को उबारा। उन्होने सहज सरल राजस्थानी भाषा मे कहा—**'कोइ सरधा रो आचार रो नवो बोल नीकले तो बडा सूं चरचणो, पिण ओरां सूं चरचणो नहीं। ओरां सूं चरच ने ओर रे सका घालणी नहीं। बड़ा जाब देवें ते आपरें होयें बेसे तो मान लेणो, नहीं बेसे तो केवलियां नें भलावणों, पिण टोला मांहैं भेद पारणो नहीं, माहोमां जिलो बांधणो नहीं मिल मिल नें।'**

कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है ! उन्होने कितनी दूरदर्शिता के साथ प्रतिपादित किया कि सूत्र का, कल्प का, आचार का कोई नया प्रश्न सामने आ सकता है। दिमाग है तो दिमाग मे नये प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं। हम यह नियन्त्रण नही कर सकते कि दो-सौ, चार-सौ वर्ष पहले तो कोई नयी बात सूझ सकती थी और आज उस पर ताला लग गया है, ऐसा कभी नही होता। जो बात हजार वर्ष पूर्व ध्यान मे नही आयी वह आज ध्यान मे आ सकती है और आज जो ध्यान मे नही आती वह आगे कभी ध्यान मे आ सकती है। चिन्तन के विकास को और विकास के क्रम को रोका नही जा सकता। यह रुकता भी नही। विज्ञान के क्षेत्र मे तीन सौ वर्ष

पूर्व जो उपलब्धियां नही हुई थीं, वे आज हो रही हैं। सौ-पचास वर्ष पूर्व हमने पढ़ा था कि अन्तरिक्ष-यात्रा होगी। यान जाएगा। ये सारी कपोल-कल्पनाएं लगती थी। सोचा जाता था कि भला ऐसे भी कभी हो सकता है? चन्द्रमा पर कोई यान जा सकता है? ये सारी बातें औपन्यासिक-सी लगती थी, जासूसी उपन्यास जैसी लगती थी। किन्तु आज यह सारा घटित हो गया। चन्द्रमा पर मानव-निर्मित यान उतर गया। मंगल-ग्रह पर भी यान पहुच गया। अब इसे नकारा नही जा सकता, आज का आदमी तो नही नकार सकता। सारे सन्देह समाप्त हो गए हैं।

चिन्तन के क्रम को कभी रोका नही जा सकता। नयी बातें पहले भी उत्पन्न हुई थी, आज भी होती हैं और आगे भी उत्पन्न होगी। हम यह नही कह सकते कि क्या यह बात हमारे पूर्वजो को नही सूझी थी? क्यो नही सूझी? उनको भी अनेक बाते सूझी थी, आज भी सूझ सकती है और आगे भी सूझ सकती है। इस पर हम कोई मर्यादा और सीमा नही बाध सकते।

आचार्य भिक्षु ने जो चिन्तन दिया उसके आधार पर हम नये-नये प्रश्नो का समाधान कर सकते हैं। उनकी व्यवस्था कर सकते हैं। वह बात हमारी समझ मे आ जाए तो ठीक है, उसे स्वीकार करे। कोई एक बात समझ मे न आए तो कुछ बनता-बिगडता नही है। हमारा ज्ञान है ही कितना! अनन्तज्ञान, केवलज्ञान की तुलना मे हमारा ज्ञान है ही कितना! जब सारा का सारा अज्ञान है तो एक बात अगर समझ मे न आए तो कोई कमी नही होगी ज्ञान की। समझ मे न आए तो उस बात को हम 'केवलीगम्य' कर दे। यह कितना सुन्दर क्रम है! कितना सुन्दर समाधान है! सत्य के शोधक को अनाग्रही होना चाहिए। वह न कहे कि मैं कहता हू वही सच है। यदि तुम कहते हो कि मै कहता हू वही सच है तो मैं भी कह सकता हू कि जो मै कहता हू वही सच है। तब फिर निर्णायक कौन होगा? कोई नही होगा। कोई केवलज्ञानी, अतिशयज्ञानी आज हमारे सामने मौजूद नही है, जो अन्तिम बात कह सके, कि यह तो अन्तिम बात है और वह हमे मान्य करनी है। किन्तु ऐसा कुछ भी नही है। इस स्थिति मे अनाग्रह के आधार पर हम इस बात को चिन्तन के लिए छोड सकते है किन्तु आग्रह को आगे नही चला सकते।

इस आधार पर समन्वय का एक ऐसा रास्ता बना कि किसी भी चर्चा को लेकर, किसी भी प्रश्न को लेकर, किसी नयी बात को लेकर, सघर्ष समाप्त हो गया। उन्होने कहा—समझ मे न आए तो उसे चिन्तन के लिए छोड दो।

मुझे तो लगता है कि हमारे आस-पास के वातावरण मे बहुत छोटी बातो को बडा रूप देने की मनोवृत्ति बन गई है। किन्तु जो मूलभूत बडे-बडे प्रश्न है, उन्हे छुआ भी नही जा रहा है। आज धर्म के सामने मूलत चुनौती है विज्ञान की। उस पर कोई चिन्तन नही करता। माइक पर बोलना या नही, कपडे धोने या नही—

ये सारी व्यवहार की बातें हैं। मूलभूत प्रश्न जो विज्ञान ने आज धर्म के सामने ला खड़े किए हैं, उन पर चिन्तन करने की जरूरत है। आज का विज्ञान समूचे जीव-विज्ञान को चुनौती दे रहा है। हमारा समूचा आधार है आत्मा और जीव। इसको चुनौती मिल चुकी है। कर्मवाद को चुनौती मिल चुकी है। हम मानते हैं कि जैसा सस्कार या कर्म होता है वैसा ही जन्म होता है। आज का विज्ञान कहता है—क्या बनना है, क्या बनाना है, यह हमारे हाथ की बात है। एक वैज्ञानिक कह सकता है कि आप इजीनियर चाहे तो इजीनियर पैदा कर सकते हैं। वैज्ञानिक चाहे तो वैज्ञानिक पैदा कर सकते हैं। बस, थोड़े से 'जीनो' का परिवर्तन करना होता है। 'जीन' और 'क्रोमोसोम' मे गुणसूत्र आयोजित करेंगे और मनचाहा बना लेंगे। माता-पिता के बिना भी बच्चे उत्पन्न होगे। बच्चे टेस्ट-ट्यूब मे उत्पन्न होगे। प्रयोग चल रहे है। खोजे हो रही है। कुछ ही दशको मे नये तथ्य सामने आएगे। आज जीवशास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगोल, खगोल—इन सभी क्षेत्रो मे विज्ञान ने इतनी नयी उपलब्धिया प्राप्त की है, इतनी नयी स्थापनाए की हैं कि आज धर्म का हर प्रश्न पुन विवेचनीय या समझने योग्य हो गया है।

टेस्ट-ट्यूब मे उत्पन्न होने वाला बच्चा वैज्ञानिक के द्वारा नियत्रित होगा। वह वही सोचेगा जो वैज्ञानिक सोचना चाहेगा। वह वही काम करेगा जो वैज्ञानिक कराना चाहेगा। वैज्ञानिक जिस प्रकार से उसके मस्तिष्क का कट्रोल करेगा, उसी प्रकार उसका मस्तिष्क सचालित होगा। इसका अर्थ हुआ कि कर्म, आत्मा आदि सारे प्रश्न मीमासनीय हो गए। हम छोटी-छोटी बातो मे न उलझें किन्तु उन मूलभूत समस्याओं को समाधान देने का प्रयत्न करें। हम यह सोचें कि समस्याए क्यो उभर रही हैं और उन समस्याओ के विषय मे हमारा चिन्तन क्या हो सकता है? मै समूचे जैन समाज या समूचे धार्मिक समाज से अनुरोध की भाषा मे कहना चाहूगा कि आज मूलत ही आस्तिकता, धर्म, अध्यात्म—ये सब चुनौतियो से घिरे हुए हैं। आज का कोई भी धर्म, कोई भी धर्म का नेता, धार्मिक विचारक और चिन्तक यदि उन मूलभूत चुनौतियो पर विचार करे, ध्यान दे तो धर्म का बहुत बडा भला हो सकता है, विकास हो सकता है। ऐसा होने पर व्यर्थ मे उलझाने वाली छोटी-मोटी बातो से मुक्ति हो सकती है।

दो बातो की चर्चा की है। एक है—नयी स्थापना, नया व्यवहार और नया प्रवर्तन। दूसरी है—परिवर्तन। तीसरी जो है वह न तो कोई नयी स्थापना है, न कोई परिवर्तन है, वह एकमात्र व्यवहार की बात है।

आज भी एक प्रश्न आया था—जैन विश्वभारती के बारे मे। यह न तो कोई नयी स्थापना का प्रश्न है और न परिवर्तन का प्रश्न है। यह मात्र व्यवहार का प्रश्न है।

प्रश्न है कि मुनि जैन विश्वभारती का संचालन कर सकते हैं या नही?

किसी भी संस्थान के संचालन में मुनि का प्रत्यक्षत: कोई योग नहीं होता। परन्तु चाहे कोई सभा हो, चाहे कोई दूसरी-तीसरी प्रवृत्ति हो, उसके बारे में हमारा सीमाबद्ध इंगित हो सकता है, जो पहले भी होता था, आज भी होता है और आगे भी हो सकता है। हमारा मूल इंगित है कि जैन विद्याओं का विकास होना चाहिए। जैन आचार्यों ने अनेक प्रकार की विद्याओं का उल्लेख किया है। बहुत साहित्य लिखा है, नयी खोजें की हैं और इतनी उपलब्धियां छोडी है कि समाज को गर्व हो सकता है।

कुछ दिन पूर्व पंजाब यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर डॉ० शक्तिधर शर्मा यहां आए थे। उन्होने बताया कि उनके पास उनके दो शिष्य—गर्ग और सज्जनसिंह लिस्क आए। उन्हे शोध-प्रबन्ध के लिए विषय चाहिए था। उन्होने गर्ग से कहा—'तुम जैन गणित के अनुसार सूर्य-प्रज्ञप्ति पर अपना शोध-प्रबन्ध लिखो।' उसने कहा—'नही, यह बहुत पुराना विषय है, मेरे मित्र हसेंगे कितना पुराना विषय लिया है। मखौल होगा। मैं नही लेता इसे। मैं तो कोई भौतिकी शास्त्र का विषय लूगा।' मैंने फिर सज्जनसिंह से कहा। उसने जैन गणित का विषय चुन लिया। उसने सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र पर काम प्रारम्भ किया और आज इतने नये तथ्य प्रकट हुए कि हमे भी आश्चर्य होता है। जिस सूर्यप्रज्ञप्ति के विषय मे जैन भाइयो का यह कथन था कि इसमे अनेक बाते असगत है, उसी ग्रथ के विषय मे डॉ० शक्तिधर ने कहा कि वह भारतीय साहित्य ही अपूर्व उपलब्धि है। समूचे विश्व मे वेदांग ज्योतिष के बाद एक ऐसा समय आता है, आर्यभट्ट से पहले और वेदाग ज्योतिष के बाद, बीच का एक ऐसा शून्यकाल आता है कि उस समय का न कोई साहित्य मिलता है और न कोई सिद्धात। सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र ही उसकी पूर्ति करता है। इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ससार मे दूसरा नही है। उन्होने उस पर खोज की है, अनेक स्थलो की व्याख्या की है। उनका मानना है कि जब इस ग्रन्थ के तथ्य वैज्ञानिको के समक्ष प्रस्तुत होगे तब कुछ नयी मान्यताए स्थापित हो सकती हैं। गर्ग ने भौतिकी-शास्त्र पर जो शोध-प्रबन्ध लिखना प्रारम्भ किया था, आज तीन वर्षों के बाद, अब वह मानने लगा है कि उसने जैन गणित का विषय न लेकर भूल की है।

कुछ वर्ष पूर्व म्यूनिख मे एक कान्फ्रेंस हुई थी। उसका विषय था 'साख्यिकी' (Statistics)। उस परिषद मे प्रो० पी० सी० महलनोबिस (Mahalanobis) ने साख्यिकी पर अपना निबध पढा था। उन्होंने यह प्रतिपादित किया था कि साख्यिकी का मूल आधार है—सप्तभगी, स्याद्वाद की सप्तभगी। स्याद्वाद की सप्तभगी के जो सात मूलभूत सिद्धात हैं वे ही सिद्धांत साख्यिकी के हैं। उनके पत्र मे सप्तभगी को इतना महत्त्व दिया गया है कि हमे स्वयं आश्चर्य होता है। बड़ा महत्त्वपूर्ण पत्र था।

आज जैन गणित, जैन खगोल आदि की नयी-नयी किरणें बिखर रही हैं। इन

जैन विद्याओं से जैन लोग अपरिचित हैं। आज तक जैन-क्षेत्र में सबसे अधिक काम किया है जैनेतर विद्वानो ने। ऐसी स्थिति मे क्या यह हमारे लिए चिन्तन की बात नहीं है ?

जैन विश्वभारती को आप केवल बड़े-बड़े मकानों मे देखते हैं इसीलिए यह प्रश्न करते हैं कि साधुओ को यह कैसे कल्पता है ? साधु मकान की कामना नही करते। वे यह अवश्य चाहते हैं कि हमारी जैन विद्याए, जो आज लुप्तप्राय हैं, जिन पर आज भी कम खोज हो रही है, जिनका प्रचार कम हो रहा है, जिनकी खोज पूर्वाचार्यों ने कर ली थी, जो निष्पत्तिया आज छिपी पडी हैं, उस धरोहर को हम आज विश्व के सामने रखे और जैन विद्याओ को आगे लाए। यह कामना है हमारी। यह सही है कि इसकी पूर्ति के लिए अर्थ और मकान भी आवश्यक होगे। और भी हजारो चीजे आवश्यक होगी। पर साधु अपनी सीमा मे ही एक कामना करता है। आगे का क्रियान्वयन समाज करता है।

आचार्य विनोबा, काका कालेलकर आदि भारतीय मनीषियो ने आचार्यप्रवर से कई बार अनुरोध किया था कि आज विश्व मे अनेकातवाद के प्रचार की आवश्यकता है और वह कार्य आचार्य तुलसी करे। यह सद्यस्क प्रश्न है।

मुझे लगता है कि लोग छोटी-छोटी बातो मे उलझ जाते है और मूल बात को कही छोड देते है। वे इसमे ही उलझ जाते है कि महाराज चदा करवाते हैं, मकानो की प्रेरणा देते है आदि-आदि। मुझे तरस आता है उनके चिन्तन पर। हम इन छोटी बातो मे पडकर मूल को भुला देते है। आप मकान बनाए या न बनाए, हमे क्या ? शातिनिकेतन जब प्रारम्भ हुआ था तब उसकी कक्षाए वृक्षो के नीचे लगती थी। आप हमारी इस बात को पकड ले कि जैन विद्याओ का हमे विकास करना है, अनुसधान करना है और सारे विश्व मे इन किरणो को फैलाना है। आप केवल यह सकल्प करे। आप एक भी कौडी दें या न दे, आप मकान बनाएं या न बनाए, हमे कोई कष्ट नही होगा, कोई चिन्ता नही होगी। आप केवल मूल काम को करें। आप दोषारोपण की बात को छोडकर काम मे लग जाए। यदि दोषारोपण ही करते रहेंगे तो पुरानी उपलब्धिया नष्ट हो जाएगी और नया कुछ भी हाथ नही लगेगा। आप दरिद्र बन जाएगे।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने कितने बडे-बडे काम किए थे। आज उपलब्ध साहित्य उसका साक्षी है। आज आप किसी भी क्षेत्र के प्राचीन साहित्य को देखें, उसमे जैन आचार्यों की विशेष देन मिलेगी। आज कहा हैं जैन समाज मे ज्योतिष के विद्वान् ? कहां हैं आयुर्वेद के धुरन्धर ? कहा है मन्त्रशास्त्र के विद्वान् ? कहा हैं तत्र और रसायन विद्या के पारगामी विद्वान् ? आज मानो सारा का सारा लुप्त ही हो गया है। एक समय था जब इन सारी विद्याओ के पारगामी विद्वान् जैन परम्परा मे उपलब्ध थे। उनकी इस विषय मे अपूर्व देन रही है।

आज आप इतना-सा करें कि इन प्राचीन उपलब्धियों को जनता के समक्ष रखने का प्रयत्न करें। जैन विद्याओं के प्रति जनता आकर्षित होगी और इस प्रकार उसके साहित्य का उद्धार होगा। जिस परम्परा मे इतने बड़े-बडे ग्रन्थ लिखे गए, जिस परम्परा में इतनी विशिष्ट उपलब्धिया हुई, क्या आज हम उनकी सुरक्षा का दायित्व भी नही ले सकते ?

जैन विश्वभारती के माध्यम से यह काम सुगमतापूर्वक हो सकता है। इसे केवल आप अर्थ और मकान ही न मानें। ये दोनो आवश्यक हैं उसके विकास के लिए। जहा आत्मा की बात है, वहा शरीर भी होगा। हम आपसे कहते हैं—धर्म करें। धर्म आत्मा की बात है, पर उसके साथ शरीर भी होगा। केवल शरीर को न पकडें।

आचार्यश्री जहा जाते है वहा आप मोटरो से आते-जाते है, रेलो से आते-जाते हैं, पैदल जाते-आते हैं, पडाल बनाते है, पखे लगाते हैं, बिजली लगाते हैं। और अनेक प्रवृत्तिया होती हैं। इन सबके साथ साधुओ को जोडना क्या समीचीन हो सकता है ? इन सारी प्रवृत्तियो का दोष आप साधुओ पर डाल देते है और धर्म की बात, आत्मा की बात का दायित्व अपने पर लेते हैं। यह अटपटा-सा चिन्तन है। हम मूल को मूल समझें और आनुसगिक बात को आनुसगिक बात समझें। आचार्य भिक्षु ने कितनी सुन्दर बात कही थी—गेहू के लिए खेती की जाती है, खाखले के लिए नही। घास और कडवी के लिए नही। हमारा यह विवेक स्पष्ट होना चाहिए कि अनाज के साथ-साथ और-और वस्तुए भी पैदा होगी। किन्तु किसान केवल अनाज के लिए ही खेती करेगा। दूसरी चीजे स्वत उत्पन्न होगी।

जैन विश्वभारती के लिए ठीक वही उदाहरण है। आचार्य भिक्षु ने ठीक कहा था—धर्म आत्मशुद्धि के लिए किया जाता है, पुण्य के लिए नही। पर यह निश्चित है कि धर्म के साथ-साथ पुण्य का भी बन्ध होगा। आप इसे चाहे या न चाहे, यह बन्ध अवश्य होगा। आग जलेगी तो धुआ भी होगा।

जहा जैन विद्याओ के प्रचार-प्रसार की बात आएगी वहां उनके शोध के लिए मकान भी आवश्यक होगे और पुस्तकें भी आवश्यक होगी। ये सारी गौण बातें हैं। हम मुख्य को मुख्य मानें और गौण को गौण। हम मूल को भुलाकर, छिपाकर, केवल गौण को ही न पकडें। उस पर ही न अटक जाए।

इस प्रकार मेरी चर्चा के तीन आयाम ये है—

१. नयी स्थापना।

२. परिवर्तन।

३. न नयी की स्थापना और न परिवर्तन, केवल व्यवहार का प्रश्न।

आप इन तीनो पर विचार करे। आपका दृष्टिकोण सम्यक् होगा, तब आप सही निर्णय ले सकेंगे।

उस संघ को प्रणाम

तेरापंथ का अर्थ

तेरापथ का अर्थ है—आत्मोत्सर्ग । जो व्यक्ति आत्मोत्सर्ग करना नही जानता, वह तेरापथ को नही जान सकता । जिस व्यक्ति मे आत्मोत्सर्ग की क्षमता होती है, व्यक्तिगत अह और व्यक्तिगत स्वार्थ के विसर्जन की क्षमता होती है, वही व्यक्ति वास्तव मे तेरापथ का अर्थ समझ सकता है । एक विदेशी लेखक ने लिखा है—हिन्दुस्तान की एक सबसे बडी समस्या है—व्यक्तिगत स्वार्थवादी मनोवृत्ति । इस समस्या ने सारे राष्ट्र मे भ्रष्टाचार को जन्म दिया है ।

आचार्य भिक्षु ने तेरापथ का दर्शन दिया । उसमे सबसे पहली बात आत्मोत्सर्ग की कही । समर्पण और आत्मोत्सर्ग का विकास निरन्तर हुआ है, इसमे कोई सन्देह नही । आज तक की हमारी परम्परा मे बहुत पहले से आत्मोत्सर्ग और समर्पण की बात रही है, विनम्रता और अनुशासन की बात रही है ।

जिस सघ मे गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पण होता है, उस सघ का नाम है—तेरापथ । साधु बनना, पाच महाव्रतो का पालन करना, पांच समितियो और तीन गुप्तियो का पालन करना अनिवार्य बात है । किन्तु उसमे भी अनिवार्य बात है समर्पण और अनुशासन की । आचार्य भिक्षु ने सोचा यदि सघ मे सगठन और अनुशासन नही होगा तो महाव्रतो, समितियो और गुप्तियो का पालन भी नही होगा । इसीलिए उन्होने आचार के साथ-साथ अनुशासन को भी बडा महत्त्व दिया ।

तेरापथ आचार-प्रधान सघ है तो साथ-साथ अनुशासन-प्रधान सघ भी है । जितना मूल्य इसमे आचार का है, उतना ही अनुशासन का भी है । आज तक की हमारी परम्परा ने इस बात को प्रमाणित किया है कि जिस व्यक्ति ने अनुशासन को भग किया, वह आचार मे भी स्थिर नही रह सका । ऐसा सम्भव ही नही लगता । आचार और अनुशासन दो आखो की तरह है । एक आंख फूट जाती है

तो आदमी काना बन जाता है। आचार और अनुशासन हमारे दो हाथ और दो पैरों की तरह हैं। एक हाथ या एक पैर के टूट जाने पर आदमी टोंटा या लंगड़ा बन जाता है। हम इस बात का बराबर मूल्यांकन करते रहें। तेरापंथ धर्मसंघ के परिसर में पनपने वाला, तेरापथ की आत्मा को समझने वाला व्यक्ति इस बात को बडी गहराई से स्वीकार करेगा कि अनुशासन की गरिमा बराबर बनी रहे।

आज मुझे गर्व होता है कि तेरापथ के हर श्रावक को अपनी आनुवशिकता और पैतृक विरासत के रूप में यह संस्कार मिल जाता है। इसलिए वह अनुशासन और सगठन को बराबर मूल्य देता चला जा रहा है। सघ और सघपति के प्रति अटूट आस्था और समर्पण तेरापथ की प्रगति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व मे तेरापथ ने अपने मौलिक सिद्धान्तो को यथावत् रखते हुए जिस प्रकार नयी-नयी दिशाओ का, नये-नये आयामों का उद्घाटन किया है, फिर वह चाहे साहित्य का क्षेत्र हो, चिन्तन का क्षेत्र हो या अध्यात्म का क्षेत्र हो, प्रत्येक क्षेत्र मे जो अपने पैर आगे बढाए है, वह एक नेतृत्व का ही सुपरिणाम है। तेरापथ की चहुमुखी प्रगति का आधार यही रहा है और रहेगा।

सघ को प्रणाम

उस बीज का मूल्य होता है जो पल्लवित होकर छाव दे सकता है, रस दे सकता है। उस ज्योति का मूल्य होता है जो अंधकार को प्रकाश मे बदलने की क्षमता रखती है। तेरापथ आज एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर सबको सुखद शीतल छाव दे रहा है। तेरापथ आज एक दिव्य ज्योति के रूप मे अधकार को प्रकाश मे बदल रहा है। नीरसता मे सरसता का अंकुरण कर रहा है तथा अनास्था को आस्था मे जगा रहा है।

अतीत की गाथाए सुनते-सुनते कान बहरे हो जाते है। उसके साथ हमारा सबध मात्र पचीस प्रतिशत होता है और पचीस प्रतिशत ही सबध होता है हमारा अनागत या कल्पना से। किन्तु पचास प्रतिशत सबध हमारा वर्तमान से होता है। जिसके पैर वर्तमान के धरातल पर टिकते है, सही अर्थों मे वही अपना मूल्य स्थापित कर पाता है। जिसके पैर अतीत की ओर या अनागत की ओर चलते हैं, उसका मूल्य दुनिया मे कम होता है। आचार्य भिक्षु का विचार, आचार तथा दर्शन आज भी जीवित है और इस दुनिया मे जो जीवित है, जिसमे वर्तमान मे सांस लेने की क्षमता है, उसी की पूजा होती है।

आचार्य भिक्षु स्वय वर्तमान को समझने वाले थे। उन्होंने वर्तमान को जितना समझा बहुत कम लोग समझ पाते हैं। वर्तमान और विवेक दोनों से उन्होने काम लिया। जो व्यक्ति केवल ग्रन्थो या शास्त्रों के आधार पर चलता है, अतीत के आधार पर चलता है, उसके साथ वर्तमान का योग नही जुड पाता, गणित फेल

हो जाता है।

आचार्य भिक्षु ने केवल एक पद 'आचार्य' का रखा। लोगो ने कहा—'महावीर के समय की यह परम्परा है कि सघ मे सात पद होते है। महावीर की परम्परा आपने कैसे मिटा दी ?' आचार्य भिक्षु ने कहा—'सातो पदो को मैं ही देख रहा हू।' जब राष्ट्रपति शासन होता है तो पूरा मन्त्रिमण्डल उसमे समाहित हो जाता है। शास्त्रो की परम्परा के अनुसार यदि तेरापथ मे सात पद रख भी दिए जाते तब भी उसका रूप नही बन पाता। जो अनुशासन, जो सगठन, जो व्यवस्था आज तेरापथ मे है वह न केवल भारतीय समाज मे वल्कि पूरे ससार के धार्मिक सम्प्रदायो मे अद्वितीय मानी जा रही है। उसके पीछे है आचार्य भिक्षु का वर्तमान युग-चेतना के साथ तादात्म्य और विवेकपूर्ण दृष्टि। आचार्य भिक्षु ने कुछ घोषणाए की, कुछ ऐसे सिद्धान्त दिए जो आगमो मे स्पष्ट नही हैं, पर उन्होने उनको इतना विकसित किया कि आज वे वर्तमान के विचार बन रहे हैं।

तेरापथ की विचारधारा सदैव युग के साथ चली है और हमारी मान्यता रही है कि तेरापथ का आचार्य वह होता है जो वर्तमान युग का प्रतिनिधित्व करता है। जब आचार्य भिक्षु की जरूरत थी तब आचार्य भिक्षु जन्मे, जयाचार्य की जरूरत थी तो जयाचार्य, कालूगणी की जरूरत थी तो कालूगणी और आचार्य तुलसी की जरूरत हुई तो आचार्य तुलसी जन्मे। अगर आचार्य तुलसी आज से दो सौ वर्ष पहले जन्म लेते और जयाचार्य आज जन्म लेते तो यह विपर्यय होता, किन्तु जयाचार्य की जरूरत थी दो सौ वर्ष पहले जबकि तेरापथ की विचारधारा को गतिमान बनाना था और आचार्य तुलसी की जरूरत है आज जब युग-चेतना के साथ अणुव्रत के माध्यम से तेरापथ की विचारधारा को जोडना था।

आज के युग की अपेक्षा है—शारीरिक, मानसिक एव भावात्मक समस्याओं के समाधान की। गरीबी की समस्या का समाधान धार्मिक मच से नही, अपितु कृषि के विकास से होगा, किन्तु मानसिक समस्या का समाधान भौतिक जगत् के पास नही है। किसी वैभव की सत्ता मे इतनी ताकत नही जो इस समस्या का समाधान दे सके। एकमात्र आध्यात्मिक और धार्मिक मच ही इस समस्या का समाधान दे सकते है। तेरापथ ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की क्षमता अर्जित की है। अपेक्षा उसी से की जा सकती है जिसके पास शक्ति हो। स्वय शक्तिहीन दूसरो की समस्या का समाधान नही दे सकता। बुझी हुई राख कभी प्रकाश नही दे सकती, प्रज्ज्वलित ज्योति ही अन्धकार को प्रकाश मे बदल सकती है। तेरापथ ने स्वय शक्ति अर्जित की है। अनुशासन, सगठन, व्यवस्था, अहकार और ममकार का विसर्जन, सत्यनिष्ठा और ब्रह्मचर्य—ये हमारी शक्ति के स्रोत हैं।

जो सघ अपने सयम और अनुशासन से शक्ति-सम्पन्न हो उससे मानव जाति

अपेक्षा रखती है। तेरापंथ के आचार्य तुलसी ने उन अपेक्षाओं को पूरा करने का प्रयत्न किया है—अणुव्रत के माध्यम से, प्रेक्षा-ध्यान के माध्यम से, नये विचार और सृजनात्मक दृष्टिकोण के माध्यम से।

आज तक तेरापथ की ओर से किसी भी सम्प्रदाय के विरोध मे दो पक्तिया भी नही लिखी गई हैं। सवा दो सौ वर्षों का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। जिसका इतना सृजनात्मक और रचनात्मक दृष्टिकोण रहा हो, वह देने की क्षमता में आता है। इस महान शक्तिशाली दायित्व-बोध, युगबोध और युग-चेतना के साथ चलने वाले संघ को प्रणाम।

मृत्युंजयी आचार्य भिक्षु

मैं प्रणाम करता हू कटालिया की उस धरती को जिसने एक महान् व्यक्ति को जन्म दिया। मैं प्रणाम करता हू अपनी माता साध्वी बालूजी को जिन्होने मुझे आचार्य भिक्षु के नाम और आचार्य तुलसी के सान्निध्य से परिचय कराया। मैं प्रणाम करता हू अपने गुरु आचार्य तुलसी को जिन्होने मुझे आचार्य भिक्षु की आत्मा से परिचित कराया।

मेरी दृष्टि मे जन्म का कोई मूल्य नही होता। मूल्य होता है मृत्यु का। आचार्य भिक्षु ने जन्म और मृत्यु को समान महत्त्व दिया। उनके जीवन और मृत्यु की दूरी केवल तेरह किलोमीटर है। अधिक नही। उनका जन्म-स्थल है कटालिया और निर्वाण-स्थल है सिरियारी। दोनो की दूरी है केवल तेरह किलोमीटर। मैं आचार्य भिक्षु को जन्म से व्याख्याकार नही मानता, किन्तु मृत्यु के महान् सूत्रकार मानता हू। उन्होने जीवन भर मृत्यु की आराधना और उपासना की। वास्तव मे जन्मदिन उसी का मनाया जाता है जो मृत्यु का उपासक होता है। जो मृत्यु का उपासक नही होता उसका आज तक जन्मदिन मनाया भी नही गया और मनाया भी नही जाएगा।

जन्म का सूत्र है मृत्यु और मृत्यु का सूत्र है अभय। जिस व्यक्ति ने अभय को साध लिया, उसने मृत्यु की कला को सीख लिया। जिसने मृत्यु की कला सीख ली, उसने जन्म को सफल बना डाला।

एक शब्द मे कहू तो आचार्य भिक्षु मृत्यु के महान् उपासक और सत्य के व्याख्याकार थे। उनका व्यक्तित्व अभय से ओत-प्रोत था। एक नही, अनेक घटनाएं साक्षी है इस अभयमुद्रा की।

उनका पहला निवास-स्थल था श्मशान की छतरिया। वे वहा रहे। अभय का कवच पहने हुए रहे। उल्लास ने उनका साथ दिया और वे आगे से आगे बढ़ते गए।

पहला चातुर्मास का स्थल था—अंधेरी ओरी। लोगों ने यह स्थान इसलिए

बताया कि 'सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे।' भीखनजी केलवा गांव में आ गए। लोगों ने सोचा, निकालेंगे तो लोग बुरा कहेंगे। ऐसा काम करें कि बिना मारे ही ये मृत्युधाम पहुच जाएं। 'अंधेरी ओरी' का स्थान ऐसा था। जहां जो रात को रहा वह सबेरे मरा निकला। भीखनजी वहां रात मे रहे, पर मरे नही। जो मरकर अमर बन जाते हैं, वह कैसे मरें! वे कभी मरते ही नहीं। मौत का भय उन्हे नही लगा। लोगों ने पहले यक्ष का भय, भूत का भय दिखाया। पर वे अभय थे, किसको भय था भूत का!

आज हम आचार्य भिक्षु को एक महान् तपस्वी, महान् मनीषी, महान् दार्शनिक, महान् द्रष्टा, महान् चेतना के धनी और रहस्यमयी व्यक्तित्व के पुज के रूप मे जानते-मानते हैं। इस चित्रण का श्रेय है श्रीमज्जयाचार्य को। वे उनके महान् भक्त और व्याख्याकार थे। यदि वे नही होते और होकर भी अतीत का आकलन नही करते और आकलन करके भी यदि उसकी व्याख्या नही करते, सगति नही बिठाते तो आचार्य भिक्षु का वह अनोखा व्यक्तित्व छिपा ही रह जाता।

वे तेरापथ दर्शन के प्रणेता ही नही थे, वे हजारो-हजारो व्यक्तियो के इष्ट भी थे। उनका नाम 'मत्ररूप' बन गया भिक्षु—इस शब्द की सरचना या ध्वनि ऐसी है कि यह मत्रवत् प्रभावक है। मत्र और कुछ नही, शब्द-सयोजना और ध्वनि का ही तो चमत्कार है।

आचार्य भिक्षु निरन्तर तूफानो का सामना करते रहे, निरन्तर समस्याएं आती रही, और वे तूफानो को चीरकर आगे बढते रहे, समाधान देते रहे। तूफानो से घबराना उन्होने सीखा ही नही। जिसकी निष्ठा मे तपस्या का तेज होता है, सत्य का बल होता है, वह सघर्षों मे कभी नही घबराता। तूफान आते हैं, टकराकर बिखर जाते हैं। सघर्ष की चिनगारिया उछलती हैं, पर बुझ जाती हैं।

जयाचार्य ने भी सघर्ष और तूफानो का जिन्दादिली से सामना किया और प्रत्येक प्रहार को हसते-हसते झेला।

आचार्य तुलसी का जीवन भी सघर्षों मे पला है, पुष्ट हुआ है और तेजस्वी बना है।

तीनों समान है। आचार्य भिक्षु का तो यह वरदान ही है कि इस आसन पर आने वाला आचार्य भिक्षु बनकर ही बैठ सकता है, दूसरा नही। इस आसन पर वही बैठ सकता है जो श्रमशील, सघर्षशील और कर्मशील हो।

आज आचार्य भिक्षु का जन्मदिन है। आचार्य भिक्षु बनकर ही आचार्य भिक्षु का जन्मदिन मनाया जा सकता है। प्राचीन आचार्यों ने कहा है—यदि देवता की पूजा करनी है तो देवता बनकर ही करो। देवता बने बिना देवता की पूजा नही की जा सकती। जो कष्टों से घबराता है, संघर्ष और तूफान से भयभीत होता है, विचलित होता है वह आचार्य भिक्षु का जन्मदिन नही मना सकता।

महान् पर्व संवत्सरी

सवत्सरी का महान् पर्व जैन समाज के लिए महास्नान का पर्व है। यह महाकुंभ स्नान है। यह अत करण की व्याधियो और मनोकायिक बीमारियो की शुद्धि के लिए चिकित्सा-पर्व है। और स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए तथा भविष्य की प्रतिबद्धता के लिए कार्य-सिद्धि का पर्व है। इस प्रकार वह शुद्धि का पर्व है, चिकित्सा का पर्व है और सिद्धि का पर्व है।

सामाजिक सपर्कों मे जीने वाले हर व्यक्ति मे प्रियता और अप्रियता का भाव न आए, यह कम सभव है। प्रियता और अप्रियता का भाव आए और राग-द्वेष न उभरे, यह सभव ही नही है। राग-द्वेष जागे और ईर्ष्या की कालिमा चित्रपट पर न जमे, यह असभव बात है। वह कालिमा जमे और व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक दृष्टि से न सताये, यह कभी हो ही नही सकता। सभी शारीरिक और मानसिक बीमारिया वही से उत्पन्न होती है।

इस पर्व का मूल्य केवल आध्यात्मिक ही नही, इसका चिकित्सात्मक तथा स्वास्थ्यात्मक मूल्य भी है। यह जैन तीर्थंकरो और आचार्यों का महान् अवदान है। प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य और आध्यात्मिक स्वास्थ्य को गतिशील रख सके और भविष्य मे आने वाले अवरोधो को मिटा सके, इसलिए उन्होने एक दिन का चुनाव किया और वह महान् पर्व बन गया।

यह सवत्सरी पर्व सिद्धि का पर्व है। शुद्धि करे, चिकित्सा करें और सिद्धि न करें तो वह चक्र बराबर चलता रहेगा। सबसे महत्त्वपूर्ण बात है प्रतिरोधात्मक शक्ति। शरीर मे रोग-निरोधक क्षमता होनी चाहिए। प्रतिरोधात्मक शक्ति से ही रोग के कीटाणुओ से लडा जा सकता है। यदि वह नही होती है तो रोग का आक्रमण सहज हो जाता है।

क्षमा का अर्थ है सहिष्णुता। जब सहिष्णुता की शक्ति का विकास नही होता तब आदमी क्षमा करके भी क्षमा का लाभ नही उठा पाता। बहुत बार आदमी भ्रम को पाल लेता है, केवल शाब्दिक स्थिति मे चला जाता है और अन्तर्भाव में

सहिष्णुता का क्रमिक विकास तो हो नही पाता और उसे क्षमा का सीमाबोध भी नही होता।

एक रोगी डॉक्टर के पास गया। डॉक्टर ने कहा—तुम नशीली चीजों से दूर रहा करो। रोगी ने बात मान ली। वह अब लम्बी नली में सिगरेट डालकर पीने लगा। एक फुट लम्बी नली को देखकर एक व्यक्ति ने पूछा—सिगरेट पीने का यह क्या तरीका है ! उसने कहा—नशीली चीजों से दूर रहने की सलाह डॉक्टर ने दी है, इसलिए मैं तम्बाकू से दूर रहता हू, नजदीक नही जाता।

बीच मे एक फुट लम्बी नली है तो वह तम्बाकू से एक हाथ दूर है। किन्तु इस दूरी का अर्थ कुछ भी नही होता।

हमारे शब्दो की नली भी बहुत लम्बी है। हम बचने का बहुत प्रयत्न करते हैं, किन्तु जब तक भूल का शोधन नही हो जाता, तब तक कठिनाइया बढती चली जाती है, कम नही होती।

यह पर्व विस्मृति का पर्व है। विस्मृति बहुत बडा वरदान है। स्मृति जितना बडा वरदान है, उतना ही बडा वरदान है विस्मृति।

यह पर्व मनोवैज्ञानिक पर्व है। इसकी एक पूरी शृखला है। प्रियता-अप्रियता का मैल जमे तो उसे पन्द्रह दिन से स्नान कर साफ कर ले। यह है पाक्षिक स्नान। उससे भी यदि ज्ञात हो जाए कि पूर्ण शुद्धि नही हुई है तो चातुर्मासिक स्नान करे। उससे भी कलुषता न मिटे तो दूसरी बार फिर चातुर्मासिक स्नान करे, तीसरी बार चातुर्मासिक स्नान करे। इससे भी यह अनुभव हो कि पूरी शुद्धि नही हुई है तो फिर वार्षिक महास्नान करे। जिसकी इस वार्षिक महास्नान से भी शुद्धि नही होती तब मान लेना चाहिए कि रोग असाध्य है। वह न सम्यक्दृष्टि है, न श्रावक है और न साधु है, कुछ भी नही।

यह पर्व चिकित्सा का एक महान् सूत्र है और सिद्धि का भी एक महान् सूत्र है।

तेरापथ धर्मसघ सहिष्णुता का धर्मसघ है। उसका पूरा इतिहास सहिष्णुता की घटनाओ से भरा पडा है। आचार्य भिक्षु महा क्षमाशील थे। मैं सोचता था आचार्यश्री जब इस दिन पर सबसे क्षमायाचना करते हैं तब इतने भाव-विभोर कैसे हो जाते है ? कहां से सीखा इन्होने ? किन्तु जब आचार्य भिक्षु को पढ़ा तो मुझे लगा कि आचार्य तुलसी कोई नया काम नही कर रहे है। परम्परा का ही पालन कर रहे हैं, अपने आचार्यत्व को ही निभा रहे हैं, जिस आसन पर आसीन हैं, उसकी विधि का अनुसरण कर रहे है। आचार्य भिक्षु ने अपने जीवन के अतिम क्षणो मे एक-एक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओ को याद कर क्षमायाचना की थी। उस समय उनकी ऋजुता साकार हो उठी थी। इस प्रक्रिया से उन्होने अपनी शुद्धि कर एक आदर्श उपस्थित किया था। वह मानदड बन गया और आचार्यश्री

ऐसा ही कर रहे हैं।

सहनशीलता और क्षमा हमारे सघ का जीवातु है। वह हमारी परम्परा है। उस परम्परा से मैं भी जुडा हुआ हू। मुझे भी आचार्यवर ने उसी शृंखला में जोड़ दिया है। यद्यपि मैं साधु-साध्वियो के सीधे सपर्क मे अभी कम हू। सारा भार आचार्यश्री पर है। आचार्यप्रवर अपना भी कार्य करते है और मेरा भी कार्य करते हैं। मुझे उन्होने बिलकुल मुक्त रखा है। फिर भी कुछ-कुछ सपर्क रहता है। प्रियता-अप्रियता के भाव आ सकते हैं, आते हैं, आये है। मैं अपनी शुद्धि के लिए, अपनी चिकित्सा के लिए और अपनी सिद्धि के लिए सबसे क्षमाप्रार्थी हू और सबको क्षमा देता हू। मैं सतत यह कामना करता हू कि मेरे मे शुद्धि, चिकित्सा और सिद्धि का भाव प्रतिदिन वृद्धिगत होता रहे और ऋजुता सदा जागृत रहे।

●